— प्राक्कथन —

महामहोपाध्याय
श्री पं० श्रीधर अण्णाशास्त्री,
...ऐतिहासिक ।

महामहोपाध्याय
श्री पं० गिरिधर शर्मा,
चतुर्वेदः, वाराणसी ।

...दत्त, इतिहास प्रकाशन मण्डल, देहली ।

मदनमोहन शर्मा

प्राक्कथन निष्कर्ष

भारतीयों के लिए वेद ही सर्वस्व हैं।······यदि वेदों के मूलपाठ से वैदिक प्रक्रिया हटा दी गई, पाठ को भ्रष्ट कर दिया गया, उस में तोड़-मरोड़ कर दी गयी, तो ब्रह्मयज्ञ, स्वाध्याय पारायणादिकों में जो उच्चारण विशेष जन्य अदृष्ट उत्पन्न होता है, उसकी हानि होगी, तथा वह विधिव्यर्थ होंगे।······।

एवं वेद के अर्थ करने में मनमानी·····की नीति धारण की गई तो अर्थलापन के कित्येक शास्त्र तथा उनके नियम संघात अचरितार्थ हो जायेंगे।······।

यह वेदसार वैदिक धर्म की दृष्टि से किसी श्रेणी में भी पढाने के लिए योग्य है, ऐसा मालूम होता नहीं।

म. म. श्री पं. श्रीधर,
अण्णा शास्त्री 'वारे'

Ref. yours ८४२६ दि. 11-5-63.

वेदसार परीक्षण

अर्थात्

श्री विश्वबन्धु M.A., शास्त्री, M.O.L., (Pb.) [illegible] C.T, (Italy), O. d'A. (France), [illegible] वै० शो० संस्थान (V.V.R.I.) साधु आश्रम होशियारपुर द्वारा संपादित तथा अनूदित वेदसार नामक M.A. की पाठ्य-पुस्तक में किए गए शोध.... के नामपर वेदपाठपरिवर्तनादि को दिखाकर वेद के [illegible] को स्थिर करने वाली आलोचनात्मक लेख।

प्राक्कथन लेखक—

महामहोपाध्याय श्री पण्डित
श्रीधर अण्णाशास्त्री, वारे,
श्री-क्षेत्र-नासिक।

महामहोपाध्याय श्री पण्डित
गिरिधर शर्मा, चतुर्वेदः
वाराणसी

श्री भगवद्दत्त

[प्रकाश]क तथा सम्पादक :—
मदनमोहन शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनधर्मशास्त्री, वेदाचार्य M.A.
पण्डित संस्कृत विभाग, पञ्जाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ—३
प्रथमवार मई १९६३ भेंट ५) रु०

स्वाध्याय भवन
प्रकाशन सं० २

पत्र-पत्रिका वेदसार परीक्षण का पुनर्मुद्रण, सारांशप्रकाशन, तथा आलोचनादि कर सकते हैं। यदि वह ऐसा करें तो अपने प्रकाशन की प्रति अवश्य भेजने की कृपा करें। (लेखक)।

———

यह वेदसार-परीक्षण; विश्वभर के वेदप्रेमियों, पंजाब विश्वविद्यालय के प्रमुख अधिकारियों तथा माननीय सदस्यों की सेवा में विचारार्थ सादर प्रस्तुत है। वह नीर-क्षीर-विवेक करके इस पर उचित कार्यवाही करें,यही प्रार्थना है।

———

प्रकाशक :—

मदनमोहन शर्मा शास्त्री, सर्वदर्शनधर्मशास्त्री वेदाचार्य M. A.
स्वाध्याय भवन, D.50, Sector 14, चण्डीगढ़-3.पंजाब।

मुद्रक :—
श्री धर्मवीर शर्मा, सिटी प्रेस, सैक्टर २२ A, चण्डीगढ़-२

ओं ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः।
वाचस्पतर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ (अ० १, १, १,)

विषय-सूची

—०—

अधि०	विषय	

अधि० विषय

अधि०	विषय	
	विश्वज्योति की साक्षी	९०—९१
	१ मन्त्र पर विचार	९१—९७
	१ मन्त्र, विविध भाष्यकारों के व्याख्यान	९१—९४
	,, ,, वेदसार का अनुवाद	९४
	,, ,, वेदसार के टिप्पण	९४—९५
	इन टिप्पणों का संक्षिप्त परीक्षण	९५—९७
	वेदसार का पहला शीर्षक	९७
	अगले कुछ मन्त्रों के अनुवाद में तथा शीर्षकों में सामान्य आपत्तियां	९७—१०७
१४	वेदसार के परिशिष्ट और भूमिका	१०७—१२४
	परिशिष्ट (१) परीक्षण	१०७—१०८
	वर्णमाला	१०७
	व्यूह और परीक्षा में Metri Causua	१०७—१०८
	परिशिष्ट (२) परीक्षण (संक्षिप्त)	१०९—१२०
	परिशिष्ट में प्रमाण ?	१०९
	परिशिष्ट के आदर्श वाक्य	१०९—१११
	आदर्शवाक्यों का परीक्षण	११०
	'अकरम्' में वैदिकपदानुक्रम कोष की साक्षी	११०—१११
	'अकरम्' लङ् तथा लुङ् लकारों में	१११—११२
	मन्त्र १६३ में 'अकरम्'पद पर विचार	११३—११४
	संकेत और संक्षेप	११४
	संकेतों और संक्षेपों के कारण वैदिक-पदानुक्रम-कोष का अनुपयोग	११४—११५
	वेदसार के संक्षेप M.A. के अनुपयोगी	११५

अधि०	विषय	

अधि०		विषय	
		मेरा पत्र	१४३—१४४
२०		अपनी बात और मत-मतान्तर	१४४—१५२
		सामान्य व्यवहार	१४४—१४५
		मुझ पर मुख्यतः तीन प्रकार के आक्षेप	१४५—१४६
		इन तीनों का संक्षिप्त उत्तर	१४६—१५०
		मत-मतान्तर और वेदरक्षा	१५०—१५२
२१		वेदप्रेमी जनता की सेवा में—	१५३—१६०
	(क)	श्री विश्वबन्धु जी की सेवा में—	१५३—१५५
	(ख)	वेदसार की साहित्यिक परामर्श समिति के सदस्यों की सेवा में—	१५५
	(ग)	पंजाब विश्वविद्यालय के सदस्यों तथा अधिकारियों की सेवा में	१५६
	(घ)	उदारदाताओं तथा सामान्य जनता की सेवा में—	१५७
	(ङ)	राज्य तथा केन्द्रिय सरकारों की सेवा में—	१५८
		उपसंहार	१६०

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२	२०	०लणो०	०लक्षणो०
८	११	कर भी दिखाया ।	कर दिखाया ।
२३	१४	अभ्यास और ४	अभ्यास ४
३०	१०	मान्यन्ते	मन्यन्ते
३५,३७,३९	Folio	प्रथमपीठ	द्वितीयपीठ
३३	७	अर्थ पद्धति	अर्थ पद्धति और शीर्षक
३८	५	पारिचय प्रचीन	परिचय प्राचीन
३९	१४	सहसों वषर्स्रो	सहस्रों वर्ष
४१	१५	exaintion	examination
५४	२	आदि	आदि)
६९	१३	...।	। अर्थ विचार में इस पर विशेष विचार किया गया है ।
८१	३	३२ में)	३२)में
९६	१८	उदङ्कन	उद्भेदन
१००	२२	'सानसि' मे	'सानसिम्'
१११	२२	बात कही	बातें कही

इसके अतिरिक्त रेफ, अनुस्वार, वकार, बकार तथा मात्राएं आदि कई स्थानों पर अस्पष्ट हैं या मशीन पर टूट गई हैं, उन्हें पाठक ठीक कर के पढने की कृपा करें ।

वक्तव्य

वेदसार में किए गए मूल मन्त्रों के पाठपरिवर्तनादि की असंगति को देखकर तथा इस पुस्तक का M. A. जैसी उच्चपरीक्षा में पाठग्रन्थ होना अयुक्त समझ कर ही वेदसार-परीक्षण किन्हीं आवश्यक तथा अपरिहार्य परिस्थितियों में लिखना तथा प्रकाशित करना पड़ गया है।

प्रथमपीठ में लेख लिखने की आवश्यकता तथा वेद-संबन्धी सामान्य सिद्धांतों पर परिचयात्मक विचार किया गया है। द्वितीयपीठ में वेदसार का अन्तः परीक्षण किया गया है। तृतीय-पीठ में वेदसार सम्बन्धी आनुषङ्गिक विषयों पर विचार किया गया है। प्रत्येक पीठ में सात अधिकरण हैं और पूरी पुस्तक में कुल २१ अधिकरण हैं।

जिन परिस्थितियों में मुझे यह लिखना पड़ा है। मैं चाहता हूं, वैसी परिस्थितियां भविष्यत् में नहीं बनें। इसके लिए ऐसी व्यवस्था परमावश्यक है कि पाठ्यपुस्तकों के रखने में पूर्णरूप से सावधानी बरती जावे। पुस्तक लगाये जाने में किसी प्रकार का प्रभाव कारण नहीं होना चाहिए। आज संकटकाल में मुझे इसके लेखन तथा प्रकाशन का संकट उठाना पड़ा है, यह मेरी शक्ति का प्रायः वृथोपयोग है। मैं नहीं चाहता था कि ऐसा करना पड़े, अत एव पिछले काल में मैं ने प्रायः सभी मूक-साधनों का उपयोग किया है।

अस्तु, वेद का साक्षी प्रभु सभी को सद्बुद्धि देवे और वेद की परम्परा अक्षुण्ण रह कर विकसित हो, यही कामना है।

मदनमोहन शर्मा,

वेदसारपरीक्षण की छपाई में प्राप्त दान

(क) धार्मिक संस्थाओं से—

श्री सनातनधर्म सत्सङ्गसभा सैक्टर १९ चण्डीगढ	१०१) रु०
श्री सनातन धर्म सभा सैक्टर २३ चण्डीगढ	१००) रु०
श्री धर्म सस्थापना संघ, चण्डीगढ	२१) रु०
श्री महावीरदल, चण्डीगढ	११) रु०

(ख) उदार दाताओं से—

कर्नल श्री पी० एन० ज्योति	५१) रु०
सेठ श्री चानन लाल आहूजा रईस फाजिल्का	५०) रु०
श्री पं० भगीरथ लाल शास्त्री M.L.A.	२१) रु०
श्री ला० लछमनदास गुप्त चण्डीगढ	११) रु०
श्री ला० बनारसीदास अग्रवाल चण्डीगढ	११) रु०
श्री पं० सुलेखचन्द सतदेव खन्ना वाले चण्डीगढ	११) रु०
श्री पं० रामप्रताप शर्मा चण्डीगढ	११) रु०
विविध	१५) रु०

वेदरक्षा हेतु मेरा यह तुच्छ परिश्रम वेद साक्षी ईश्वर के अर्पण है। कागज, छपाई, बंधाई और पोस्टेज आदि का व्यय उदार दाताओं की सहायता से ही पूर्ण होना है अतः ५) रु० भेंट कम से कम रखी है।

श्रीशः शरणम्

प्राक्कथनम्

लेखक--महामहोपाध्याय पं० श्रीधर अण्णा शास्त्री, वारे, नासिक ।

तथावेद्यमवेद्यं च वेदविद् यो न विन्दति ।
स केवलं मूढमतिर्ज्ञान-भार-वहः स्मृतः ॥१॥

यतितव्यमतोऽवश्यं वेदविज्ञानलब्धये ।
वेद एव परः पुंसां श्रेयःप्रेयःप्रसाधकः ॥२॥

ॐ नमः श्रुतिभ्यः श्रुतिविद्यासम्प्रदायकर्तृभ्यः श्रुतर्षिभ्यो नमो गुरुभ्य ॥३॥

श्रीमान् पण्डितप्रवर परमश्रद्धेय प्राध्यापक मदनमोहन शर्मा, जसवाल, शास्त्री, सर्वदर्शन-धर्मशास्त्री, वेदाचार्य, एम० ए०, स्वाध्यायभवन, चण्डीगढ़ (पंजाब राजधानी) आप महानुभावों द्वारा ख्यातनाम विद्वद्वर श्री विश्वबन्धु M. A शास्त्री M. O.L., Kt. C.T. (Italy), O.d'. A. (France,) सम्पादित तथा श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान, साधु आश्रम होश्यारपुर (पंजाब) से प्रकाशित, एक १९५१ का संस्करण दूसरा १९६२ का संस्करण दोनों 'वेदसार' नामक प्रबन्ध तथा उन्हीं की समालोचना किया हुआ स्वतः का 'वेदसार-परीक्षण' नामक प्रबन्ध, यह सर्वसाहित्य प्राप्त हुआ । तीनों प्रबन्धों का

मननपूर्वक आमूलाग्र समीक्षण किया और मेरा मन्तव्य निश्चित कर लिया है।

तदनन्तर आप के विज्ञापनानुसार आपके 'वेदसार-परीक्षण' प्रबन्धके 'प्राक्कथन' के रूप में मैं मेरा मन्तव्य निम्न प्रकार प्रदर्शित करने का प्रयत्न करता हूं —

सर्वप्रथम यह निवेदन करना आवश्यक है, कि वेदसार का प्रथम १९५१ का संस्करण तथा १९६२ का शैक्षणिक संस्करण इन दोनों में लगभग २२३ गिने चुने हुए स्वाभिमत मन्त्रों का संग्रह है। मूलमन्त्रपाठ तथा हिन्दी अनुवाद यह रूप है, उस को अन्त में 'वेदसार के सूक्तिसार' आदि परिशिष्ट से पुष्ट किया गया है। यह प्रबन्ध प्रकाशन का व्यय जब साक्षात् वा परम्परया भारत सरकार द्वारा स्वीकृत हुवा है, तथा यह वेदसार प्रबन्ध पंजाब विश्वविद्यालय के एम० ए० परीक्षा के पाठ्यग्रन्थों में समाविष्ट किया गया है, तब उनका परीक्षण करा कर वास्तव स्वरूप किस प्रकार का है और वह कहां तक उपादेय हो सकता हैं, यह स्पष्ट कर देना परमावश्यक और उचित भी है, तथा वेदविद् पण्डितवरिष्ठ का कर्तव्य भी है, वह आप ने ध्यान में लेकर भली भांति निर्वाहित किया, तदर्थ आपको धन्यवाद देना सर्वथा उचित है।

'वेदसार-परीक्षण प्रबन्ध प्रथमपीठ, द्वितीयपीठ, तृतीयपीठ एवं क्रम से स्थूल रूप से विभक्त है। प्रतिपीठ सात २ अधिकरण हैं। प्रत्यधिकरण जो शीर्षक दिया है, तदनुसार

ही उस अधिकरण में विषय का परामर्श किया गया है। इस प्रकार उसका अन्तर्गत सूक्ष्म विभाग है।

विषयों का प्रतिपादन-सप्रमाण, सोपपत्तिक, सत्तर्क के साथ तथा उदाहरण, दृष्टान्त, तुलना प्रवृत्तिनिमित्तसहित योग्य प्रकार से ही हुवा हुवा दिखाई देता है।

भारतीयों के लिए वेद ही सर्वस्व हैं,उन वेदों की रक्षा परम्परा से किन २ उपायों से किस प्रकार की गई है। वेदपाठ यथास्थित अक्षुण्ण रखने की आवश्यकता, तदर्थ सन्धिनियमों का पालन, विसर्गादिकों का पालन, छन्दों के पाद अक्षर संख्या आदि का पालन. वेदों की अर्थलापनपद्धति, तदर्थ मीमांसा व्याकरण निरुक्तादिकों की सहायता स्वरपद्धति, उस में समस्त पदों का विचार, स्वरों का नियमन, उन में प्रातिशाख्य प्रभृति ग्रन्थों की आवश्यकता, वेदों के पदपाठ की निश्चितता आदि आदि विषय बहुत ही सुव्यवस्थित तथा अपेक्षित परामर्श के साथ विवेचित किए गए हैं यह कहने में कोई भी संकोच नहीं होता।

वेदसार-प्रबन्धगत मूलमन्त्रपाठ एवं उन का हिन्दी अर्थ दोनों की अशुद्धियां तथा उनका निराकरण, स्वयकल्पितपाठ. स्वयंकल्पितस्वराङ्कनरीति, शोध के नाम पर वेदपाठ की की हुई दुरवस्था, इत्यादि विषय बहुत ही युक्तियुक्त, प्रमाणबद्ध तथा विशद रूप से चर्चित किये है।

वेदसार-संबद्ध-संकलन किस ढंग का है, उसकी हिन्दी, उस का विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में निर्धारण होना, आदि

आदि वाह्य विषयों का भी यथोचित परामर्श कर लिया है।

इन सभी बातों का उद्धरण करा कर निर्देश कर के विवरण करना पुनः चर्वितचर्वण होगा तथा पुनरुक्ति होगी, इसलिए वह टाल दिया है।

इन का अवगाहन और पूर्ण ज्ञान मूल ग्रन्थ वेदसार तथा उसका परीक्षण ग्रन्थों के परिशीलन करने पर स्वयं प्रादुर्भूत हो सकता है। जिन विद्वानों को वेदों के मूलमन्त्र अवगत हैं, उन को तो परिशीलन के लिए एक मात्र वेदसारपरीक्षण ग्रन्थ ही पर्याप्त है।

यदि वेदों के मूल पाठ से वैदिक प्रक्रिया हटा दी गई, पाठ को भ्रष्ट कर दिया, उस में मोड़ तरोड़ कर दी गई, तो ब्रह्मयज्ञ, स्वाध्याय, पारायणादिकों में जो उच्चारण-विशेष-जन्य अदृष्ट उत्पन्न होता है, उसकी हानि होगी, तथा वह विधिव्यर्थ होंगे।

एवं वेद के अर्थ करने में मनमानी कराकर यदि अर्थ कल्पना करने की नीति धारण की गई तो अर्थलापन के प्रत्येक शास्त्र तथा उनके नियमसंघात अचरितार्थ हो जायेंगे।

शतपथब्राह्मण के ग्यारहवें काण्ड में कहा है कि—'श्रीर्वै स्वरः' (शब्रा ११, ४, २, १०; ११) स्वर वेद की सम्पत्ति है, क्यों कि स्वर वेदार्थ निश्चिति में अपना विशेष अधिकार रखता है। कर्कोपाध्याय जी कहते हैं, कि—

"वेदे मात्रामात्रस्य नानर्थक्यमिष्यते।'

वेद की मात्रा मात्रा सार्थक है, अतः जिस प्रकार अनर्थकता न आवे, उसी प्रकार यत्नशील रहना ही वेदाभिमानियों का परमकर्तव्य है।

अत एव वेद शब्दराशि तथा उनका अर्थजाल दोनों ही सहोत्पत्ति-शिष्ट हैं। ऐसा मीमांसकों का जो सिद्धान्त है वही सर्वप्रकार ठीक है।

१—ऋषि, २-छन्द, ३ देवता, ४—विनियोग—यह वेद का अनुबन्धचतुष्टय भी वेदों के उच्चारण, अर्थलापन, विध्यनुष्ठान, पुरश्चर्या आदि में अप्राकरणिक सन्दर्भशून्य, अशास्त्रबुद्धि पुरुष की स्वकपोलकल्पना इष्ट नहीं है। यह इस बात को स्पष्ट दर्शित कर देता है।

महाकवि भारवि अपने किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग में कहता है, कि—

'शुचि भूषयति श्रुतं वपुः" परम्परा विशुद्ध ही वेद शास्त्र वपु को भूषित करते हैं। तात्पर्य यह है, कि वेदों के बारे में परम्परा कैसी है? किस प्रकार है? वह क्या बतलाती है? यह अवश्य सोचना चाहिए।

अनादिकाल से वेद के प्रथमाधिकारी वैदिक ब्राह्मण ही हैं, कारण उन्होंने अनादिकाल से आज तक अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, जप तप, अनुष्ठानों के द्वारा वेद परम्परा अक्षुण्ण रीति से चलाई है। अतः उनकी परम्परा ही सच्ची

परम्परा माननी होगी, न कि अनधिकृत किसी पुरुष-विशेषों ने अपनी बुद्धिमानी से चलाई हुई कल्पित अर्वाक्तन परम्परा। वेद की यह परम्परा विशुद्ध नहीं मानी जायगी, वह सर्वथा अवैदिकी तथा अशास्त्रीया ही कही जायगी। परन्तु दुःख की बात है, कि वह परम्परा भी प्रकृत वेदसार में नहीं मानी गई—यह आपने 'परीक्षण' में प्रसंगवश जगह जगह में स्पष्ट द्योतित किया है।

यह वेदसार पुस्तक वैदिक धर्म की दृष्टि से किसी श्रेणी में भी पढ़ाने के लिए योग्य है, ऐसा मालूम होता नहीं।

आप ने वेदसार प्रबन्ध के ऊपर समालोचनात्मक वेदसार-परीक्षण ग्रन्थ लिख कर तथा प्रकाशित करा कर वेदाभिमानी वेदजिज्ञासु, वेदप्रेमी जनता पर बडा भारी उपकार किया है, इस में तनिक भी सन्देह नहीं है। आप से ऐसी ही बहुमोल वेद-सेवा होती रहे।

विज्ञ पाठकगण इस वेदसार परीक्षण ग्रन्थ को संग्रह कर के परिशीलन करते हुए लेखक महाशय के परिश्रम को सफल बनायेंगे, ऐसी आशा करता हुआ मैं अपने प्राक्कथन रूप मन्तव्य को समाप्त करता हूं।

मिति—वैशाख कृष्ण ९ भृगौ,
शके १८८५।
दि० १८-४-१९६३ ईस्वी

विद्वद्वशंवद :—
श्री मन्नासिकक्षेत्र निवासी
श्रीधर अण्णाशास्त्री, वारे,

श्री:

सम्मति

म. म. श्री पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेद:
वाचस्पति (का. हि. वि. वि.), साहित्य वाचस्पति (हि. सा. स.),
भारत शासन द्वारा सम्मान पत्र प्राप्त
सम्मानित प्राध्यापक, वाराणसेय, संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

श्रीमान् विश्वबन्धु-शास्त्री द्वारा संकलित 'वेदसार' नाम का लघुग्रन्थ और श्री मदन मोहन शर्मा शास्त्री, वेदाचार्य द्वारा लिखित उसकी विस्तृत आलोचना मैं ने अंशत: पढी है। मेरे विचार से इस ग्रन्थ पर इतनी लम्बी आलोचना लिखने की आवश्यकता न थी। आलोचना से सार उतना ही प्रतीत होता है, कि कई जगह संकलन कर्ता ने सरलता के लिए मन्त्रों के पाठों को जो कुछ परिवर्तित कर दिया है और कई जगह कोष्ठ में पाठ बढा दिये हैं। वेदमन्त्रों में ऐसे परिवर्तन अनुचित हैं, क्योंकि वेदमन्त्रों में विन्दु विसर्ग आदि का भी परिवर्तन न होने पावे, इस के लिए प्राचीन काल से आज तक बहुत प्रयत्न होते रहे हैं और हो रहे हैं। इस का विवरण आलोचक महाशय का उचित प्रतीत होता है। साथ ही मन्त्रों की

व्याख्या करने के भी नियम मीमांसा आदि शास्त्रों में निश्चित किये गए हैं। उन नियमों का उल्लंघन व्याख्या करते समय नहीं होना चाहिए।

यद्यपि आजकल के कई विद्वान् व्याख्या में नियमों का पूर्ण पालन नहीं करते हैं, ऐसा प्रवाह चल रहा है। किन्तु विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में जो ग्रन्थ नियत किये जायें उन में तो शास्त्रोक्त नियमों का पालन आवश्यक ही प्रतीत होता है।

इसलिए इस पुस्तक 'वेदसार' के पाठ्यक्रम नियत किए जाने पर पुनर्विचार हो जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

धर्मसङ्घ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी। गिरिधर शर्मा चतुर्वेदः
२३-५-६३

उद्बोधन

श्री पं० भगवद्दत्त
अध्यक्ष दयानन्द सरस्वती अनुसन्धान आश्रम,
तथा इतिहास प्रकाशन मण्डल, देहली

१. मन्त्रों का पाठ आदि सृष्टि से निश्चित है। युग-युगान्तरों में भी वही पाठ रहता है। चरणों और शाखाओं में व्याख्यान की दृष्टि से ऋषियों ने प्रवचन में पाठान्तर किया है।

२. यह प्रवचन ऋषि-परम्परा में ही हुआ है। अन्यत्र किसी को ऐसा अधिकार नहीं।

३. अनेक आचार्यों का मत है, कि यह प्रवचन भी नित्य है।

४. सन्त ऋषि नहीं होते। ऋषियों की एक श्रेणि-विशेष है।

५. सन्तों और स्कालरों को मन्त्र पाठ के परिवर्तन का कोई अधिकार नहीं।

६. ऐसा पाठ-परिवर्तन जर्मन अध्यापक स्टैलर भी करता रहता है। उस का लेख तर्क-रहित और उपहासास्पद है।

७. पं० विश्वबन्धु जी का प्रयास भी वैसा ही है। इस में दोष बहुत हैं।

८. मन्त्रों के अपौरुषेय होने का ज्ञान विद्या-विशेष पढ़ने से होता है, पं० विश्वबन्धु जी और पाश्चात्य स्कालरों ने उस सूक्ष्म-विद्या का स्पर्श भी नहीं किया। उस विद्या का ज्ञान भर्तृहरि, पतञ्जलि, व्याडि और औदुम्बरायण आदि के ग्रन्थों से ही हो सकता है। उन के पढ़ाने वाले भी अब दुर्लभ हैं।

९. आर्यमात्र को वेदविद्या के योरोपीय कथित महत्त्व का आमूलचूल खण्डन करने में अग्रसर होना चाहिए। दुःख से कहना पड़ता है कि स्वतन्त्र भारत के विश्वविद्यालयों में भी वेदविषयक पाश्चात्य मतों का बोल बाला है।

१०. उस दिशा में प्रस्तुत वेदसारपरीक्षण ग्रन्थ स्तुत्य है ।

१/२८ पंजाबी बाग, शकूर बस्ती, देहली-६ भगवद्दत्त

२२—५—१९६३

BY THE WAY

Pandit Shri CHHAJJU RAM Sharma

Jt. Secretary, S. D. Sabha, Chandigarh

"Vedasara Pariksana", written by Pandit Madan Mohan Sharma Shastri, M. A. Vedacharya is verily a critical review of the 'Vedasara', written by Shri Vishva Bandhu and prescribed by the Punjab University as a text book for M. A. (Sanskrit) class. Pandit Madan Mohan has taken great pains in pointing out some serious defects in the 'Vedasara' and has invited attention of the lovers of Vedas all over the country for condemning it. He has also appealed to the author of the Vedasara and the Punjab University authorities to withdraw it from the course of studies.

Scholars only can judge the utility and intrinsic value of Shri Vishva Bandhu's work, but to a lay-man like me, it appears that the translation of the Mantras lacks vivacity and generally reflects the thinking of the author in his own way and does not develop a comparative and critical outlook of a student. Mr. Max Muller, the celebrated commentator on Vedas, was obliged to express his difficulty in translation of Vedas in the following manner :—

"Though we may understand almost every word, yet we find it so difficult to lay hold of a connected chain

of thoughts and to discover expressions that will not throw a wrong shade on words of the Vedas. None, who knows anything about the Vedas, would think of attempting a translation of it."

In regard to the translation of Rig Veda, he said,

"If by translation, we mean a complete, satisfactory and final translation of the whole of Rig Veda, I should go further than Mr. Roth. Not only shall we have to wait till the next century for such uphill work but I doubt whether we shall ever obtain it. I feel convinced that Vedas will occupy scholars for centuries to come and maintain its position as the most ancient of books in the library of mankind. My translation is mere contribution towards better understanding of Vedic hymns. It would take centuries of hard labour and incessant care, ...before these ancient scriptures yield up a fraction of their treasured beauty and truth."

Contrary to Mr. Max Muller's expectations about the yielding of a fraction of the treasured beauty and truth, Vedasara claims to present, not the fraction, but the essence or the 'amrita' of all the four Vedas. If it would have been so, all praise on the author of the Vedasara could be showered. But on comparison of the translation of some mantras, given in the Vedasara it appears that there is no connected chain of thoughts and no attempt has been made to discover appropriate expressions.

Leaving all this aside, one prominent defect, which calls for attention of all the scholars of the East and West, is the change in the text of the Veda Mantras. No change in the text of the religious scriptures like this has ever

been made or tolerated. The change made in the text of the Vedas by a Sanskrit Scholar is a serious matter of the nature of an intellectual and spiritual offence, though it may not be deliberate.

A book in which the original text is not presented faithfully, should not find a place in the prescribed courses of study. As set out in Vedasara Pariksana, the standing instructions to the effect that a writer or a publisher of a book should not participate in the meetings of the Board, held to consider his work, were flagrantly violated in as much as the meeting held at Sadhu Ashram, Hoshiarpur, wherein a decision to prescribe the book was taken, was presided over by the author of the Vedasara himself. Was this a case of undue influence or of unwarranted pressure is a question for the authorities to consider?

With a view to precluding chances of introduction of faulty publications in the syllabus and also to allaying apprehension of the lovers of old scriptures the learned and respectable authorities of the Punjab University will do well by including some traditional pandits of repute in the Board of Sanskrit Studies.

It is certainly not a genial task to bring out a critical publication, but the author has been forced to do so because of the injury inflicted on the sacred scripture by the Vedasara.

CHAJJU RAM SHARMA
CHANDIGARH

Dated : 24th May, 63

ग्रन्यदान:— मेसर्ज ग्रमीनचन्द प्यारे लाल चण्डीगढ़—१५ रुपये
वेदसार परीक्षण की कुछ प्रतियों की जिल्द बांधने का व्यय दानवीर सेठ श्री चरणदास जी ने देने का वचन दिया है।

ॐ

वेदसार-परीक्षण

प्रथमपीठ

प्रथमपीठ के विषय :—

१-वेदों की रक्षा, २-वेदसार का सामान्य परिचय, ३-वेदसार में अशुद्धियों की कल्पना, ४-अशुद्धियों का अपाकरण तथा प्रस्तुत लेख. ५-वेद के मूलपाठ के विषय में, ६-वेद के अर्थ के विषय में, ७-वेद तथा व्याकरणादि ।

१-वेदों की रक्षा :—

(क) जब बौद्ध धर्म का अत्यधिक प्रचार था और सामान्य जनता वैदिक धर्म के प्रति श्रद्धाभावना खो चुकी थी। उन्हीं दिनों कुमारिल को ब्रह्मचारी के वेष में भ्रमण करते हुए काशी की राजपुत्री ने देखा और वह रोने लग पड़ी। ब्रह्मचारी कुमारिल की दृष्टि भी उधर गई और उन्होंने राजपुत्री से रोदन का कारण पूछा—

"अश्रूणि मुञ्चसि कथं वद वामनेत्रे ?"

(वामलोचने, आप रोती क्यों हैं ?)

उत्तर मिला—"कोऽद्योद्धरिष्यति पुनर्वद वेदधर्मान् ?"

(बताओ, आज वेदधर्मों का उद्धार कौन करेगा ?)

कुमारिल आश्वासन देते हुए बोले—

"एवं हि मा रुदिहि धर्मपरायणे त्वम्,
त्वां मोदयिष्यति कुमारिल एष वर्णी ।"

[यदि ऐसा है, तो धर्मपरायण राजकुमारी, आप रोवें मत। आप को यह कुमारिल ब्रह्मचारी (वेदोद्धार करके) प्रसन्न करेगा।]

वह ऐसा समय था, जब कि बौद्ध-सम्प्रदाय के ग्रन्थ भी बाहर उपलब्ध नहीं होते थे, जिस से वैदिक विद्वानों को उनके खण्डन में भारी कठिनता आती थी। इस कारण कुमारिल भट्ट ने छात्र-रूप में बौद्ध-मठ में प्रवेश किया और बौद्ध-सम्प्रदाय के ग्रन्थ पढ़े। पढ़ने के साथ ही वह परिश्रम-पूर्वक उन ग्रन्थों की प्रतिलिपि कर के प्रच्छन्न रूप से बाहर भेजते रहे। जब प्रायः प्रधान ग्रन्थों की प्रतिलिपि कर ली गई, तो एक रात मठ की दीवार फांद कर वह स्वयं भी बाहर आ गए। बाहर आ कर तन्त्रवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि ग्रन्थ लिखे, जिन के द्वारा बौद्ध-प्रचार का प्रतिवाद हो पाया। इस प्रकार बनी हुई पृष्ठभूमि पर श्री शंकराचार्य वैदिक-धर्म की पुनः प्रतिष्ठा में सफल हुए।

(ख) सभी शास्त्र वेदों की रक्षा को अपना प्रमुख प्रयोजन बताते हैं। वेदों से प्रतिपादित विषय को ही धर्म में परम प्रमाण मानते हैं। व्याकरण को वेदों का मुख कहा गया है। महाभाष्यकार पतञ्जलि ने प्रयोजनवार्तिक में :—

"रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्"

कह कर वेदों की रक्षा तथा वैदिक मन्त्रों में ऊह (विभक्ति-विपरिणाम) आदि को ही व्याकरण का प्रमुख प्रयोजन बताया है। मीमांसा सूत्रकार जैमिनि ने कहा है :—

"चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः" १, १, २;

अर्थात् वेद प्रतिपादित पदार्थ ही धर्म हैं। धमशास्त्रकार कहा करते हैं—

"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"

अर्थात् धर्म की जानकारी चाहने वालों के लिए परम प्रमाण वेद ही हैं। कहां तक गिनायें, सारा संस्कृत वाङ्मय

प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप में वेदों पर ही आश्रित है।

(ग) संसार के आदि वाङ्मय के रूप में वेद ही मनुष्य के पास धरोहर हैं। आज तक वेद से पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थ की उपलब्धि नहीं हो पाई। धर्मप्रेमी जनता का विश्वास है तथा शास्त्र ऐसा बताते हैं कि यह ईश्वर से प्राप्त हुए हैं।

घ) पुराणों में बताया गया है कि, वेदपाठ की रक्षा के लिए भगवान् व्यास ने वेद के चार विभाग कर दिये और ऋषियों ने सहस्रों शाखाओं में वेद की रक्षा की, इसी से कृष्णद्वैपायन का नाम वेदव्यास भी पड़ा बताते हैं।

(ङ) मूलसंहिता पाठ के साथ ही पदपाठ भी आज तक स्मरण किया जाता है। पदपाठ तथा क्रमपाठ के आधार पर—

"१ जटा, २ माला, ३ शिखा, ४ रेखा,
५ ध्वजो, ६ दण्डो, ७ रथो, ८ घनः"

नाम की आठ विकृतियों में स्मरण कर के मन्त्रपाठ की यथावत् रक्षा की जाती है। इसमें भी पञ्चसन्धि पाठ को जोड़ कर मन्त्रपाठ का अभ्यास किया जाता है। लगभग सन् १९४१ की बात है जब मैं हिन्दू विश्वविद्यालय काशी में छात्र था, उन दिनों एक दक्षिणी विद्वान् ने सम्पूर्ण तैत्तिरीयसंहिता के पञ्चसन्धि-समन्वित घनपाठ को सीधा तथा उलटा सुनाने का दावा किया था। यह प्रदर्शन वहां पर आर्ट्स कालेज हाल में सर्वपल्ली सर राधाकृष्णन (वर्तमान राष्ट्रपति महोदय) की अध्यक्षता में हुआ। तैत्तिरीयसंहिता के ग्रन्थ से भिन्न २ विद्वानों ने भिन्न २ स्थलों से मन्त्र पूछे और वह वैदिक विद्वान् अपनी स्मरण-शक्ति में पूरे उतरे।

(च) आजकल उपलब्ध संहिताओं के पाठों को शुद्ध तथा सुरक्षित रखने के लिए भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने घोर

परिश्रम किया है। मूलपाठ स्मरण किये हुए वैदिक विद्वानों की सहायता से हस्तलिखित प्रतियों का पाठ शुद्ध करके वेदों की संहिताओं को छापा गया है। आज हमारे लिए वही संहितायें आदर्श ग्रन्थ हैं। उन्हीं के आधार पर वेद का मूलपाठ सुरक्षित रह सकता है। क्योंकि आज संस्कृत का अध्ययन बहुत कम हो गया है। जो पढ़ते है, वह भी M. A., Ph. D. आदि उपाधियों द्वारा पल्लवग्राही संस्कृतज्ञान प्राप्त कर के उच्चपदस्थ हो जाते हैं। अतः अपने आप को कृतकृत्य समझते हैं। जो कोई प्राचीन परम्परा से संस्कृत का अध्ययन करते हैं, वह भी साहित्य, व्याकरणादि में ही अपना जीवन रमा देते हैं। मूल वेद पढ़ने के लिए यदि कोई गलती कर बैठे, तो उसे जीवन से ही हाथ धोना पड़ जावेगा। क्योंकि आज के अर्थपरायण युग में वेदपाठ का स्मरण रखने वाले के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस प्रकार घोर परिश्रम तथा अनेकों जीवन से सुरक्षित वेदपाठ की इस वेदसार में क्या दशा हो रही है इसी ओर आज के विद्वानों का ध्यान दिलाना मैं अपना कर्तव्य समझता हूं। यदि हम मूल वेदपाठ की उपेक्षा करेंगे और इस प्रकार अनर्गल रूप में मन्त्रपाठ का परिवर्तन सहन करते जावेंगे, तो वेदपाठ क्षतविक्षत हो जावेगा और पीढियों द्वारा सुरक्षित वेदनिधि से हम वंचित हो जावेंगे। फिर इस प्रकार के भ्रष्टपाठ वाले ग्रन्थ को पाठ्य-क्रम में रखना तो वैदिक वाङ्मय के प्रति घोर अन्याय और छात्रों की वेद के विषय में भ्रान्त धारणाओं को बढ़ाना ही तो है।

पिछले दिनों अक्तूबर १९६२ की सरस्वती में महामहोपाध्याय गिरिधरशर्मा चतुर्वेदी जी का "वेदों की कांट-छांट" शीर्षक लेख पढ़ा था। उस में मई १९६२ की सरस्वती में प्रकाशित "वेद तीन हैं या चार" विषय पर विचार किया गया

है और वेदों की कांट-छांट को अनुचित बताया गया है। परन्तु प्रस्तुत वेदसार में तो वेदों के सूक्तों या अध्यायों आदि को ही तोड़ा गया हो? यहीं पर बस नहीं है, वेदसार में तो मन्त्रों में पदों तथा वाक्यों का भी अङ्ग-भङ्ग किया गया है। इस पर शायद अभी तक विद्वानों की दृष्टि नहीं गई है। आशा है मेरे इस लेख को पढ़ कर विद्वान् इस ओर भी ध्यान देंगे।

२-वेदसार का सामान्य परिचय :-

पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ की संस्कृत M. A. परीक्षा के प्रथम खण्ड में निर्धारित वेदसार नामक पुस्तक को जून ६२ में देखने पर पता चला कि इसका नवीन संस्करण निकल रहा है। [अगस्त ६२ का प्रकाशित यही वेदसार अब हमारी आलोचना का विषय है। जहां कहीं भी पृष्ठांकादि दिए हों, वह इसी के समझने चाहियें। यद्यपि १९५१ के छपे हुए पृष्ठ १ से १३६ भी इस में ज्यों के त्यों प्रयुक्त हैं। विशेष निर्देश होने पर पाठक १९३३ तथा १९५१ वाले प्रकाशन का उद्धरण समझें।]

वेदसार का प्रकाशन भारत सरकार द्वारा मान्यताप्राप्त तथा विश्व भर में ख्यातिप्राप्त श्री विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान साधु आश्रम होशियारपुर से हुआ है। इस संस्थान में अप्रेल १९५५ से पूर्व लगभग सात वर्ष मुझे भी कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। वर्तमान ६२-६३ वर्ष में इस संस्थान का वार्षिक आय-व्यय विवरण लगभग पांच लाख रुपये का है, जिस का प्रमुख भाग भारत की केन्द्रिय तथा राज्य सरकारों, विश्वविद्यालय तथा उदार दाताओं से प्राप्त होता है। पुस्तक के सम्पादक तथा अधि-सम्पादक संस्थान के संचालक ख्यातनामा विद्वान् श्री विश्वबन्धु जी स्वयं हैं। इनकी वेदप्रेमी जगत् में

महती प्रतिष्ठा है और इन्होंने त्याग, तपस्या तथा लगन से अपना जीवन ही इस संस्थान का अर्पण किया है।

सन् १९५१ के संस्करण में वेदसार के मुखपृष्ठ पर स्वर्गत स्वामी सर्वदानन्द जी का चित्र है तथा उस की दूसरी ओर साहित्यिक परामर्श समिति का विवरण यों है :—

१—श्रीमती सोफिया वादिया, बम्बई।
२—डा० सर स० राधाकृष्णन, मोस्को।
३—डा० श्री क० मा० मुन्शी, देहली।
४—श्री ग० वि० केतकर, पूना।
५—आचार्य श्री क्षितिमोहन सेन, शान्तिनिकेतन।
६—महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन, मसूरी।
७—डा० श्री गोकुलचन्द नारंग, देहली।
८—डा० श्री काहनचन्द खन्ना, शिमला।
९—प्रिं० भाई जोधसिंह, अमृतसर।
१०—प्रो० श्री दीवानचन्द शर्मा, होश्यारपुर।
११—श्री सन्तराम, होश्यारपुर।

जिल्द पर चारों वेदों के आकार वाले चित्र सहित आवरण पृष्ठ है और The Vedic Essence तथा वेदसार नाम छपा हुआ है। अगस्त १९६२ में जो शैक्षणिक संस्करण प्रकाशित हुआ है। उसकी जिल्द पर एक महान् वृक्ष का चित्र है और बीच में २८ पृष्ठों की भूमिका तथा अन्त में ३४ पृष्ठों के दो परिशिष्ट हैं। प्रस्तावना में भी एक पृष्ठ अधिक है। मूल्य १९५१ वाले संस्करण का १॥) रु० है तथा १९६२ वाले का ३) रु० मात्र। इन दोनों संस्करणों में मन्त्र २२३ हैं तथा केवल साध्यखण्ड का निर्देश है। पृष्ठ १ से १३६ दोनों में समान हैं। प्रस्तावना (१९५१ वाली) पृष्ठ

सात पर १९८८ तथा १९९० के संस्करण का भी वर्णन है। हम ने इस संस्करण को भी देखा है। इस में लगभग ४५० मन्त्र हैं। पहला मन्त्र 'विद्या ह वै०' निरुक्त से लिया गया है तथा अन्तिम मन्त्र "यस्मात् कोशात्०" अथर्ववेद १९, ७२, १, से लिया गया है। इसका मूल्य सादा जिल्द ।।=) तथा सुनहरी जिल्द ।।।) है। पृष्ठ संख्या २०० के लगभग है।

३-वेदसार में अशुद्धियों की कल्पना :—

इस प्रकार जिस पुस्तक के तीन संस्करण हो चुके हों, ख्याति प्राप्त वैदिक संस्था का प्रकाशन हो, ख्यातनामा विद्वान् सम्पादक, अधि-सम्पादक या साहित्यिक परामर्श समिति में हों, ऊपर चारों वेदों का अथवा वेदमहावृक्ष का चित्र हो, बीच में प्रत्येक पृष्ठ पर मूलपाठ तथा हिन्दी अनुवाद के नीचे वेद के स्थल का पूरा पता दिया हो, अन्त में पृष्ठ १३२ से १३६ तक उन्हीं पतों को तीसरी बार भी लिखा हो—उस पुस्तक में किसी प्रकार की गड़बड़ हो सकती है ? यह सभावना तो बहुत दूर की बात है, कल्पना भी नहीं की जा सकती। इसी कारण मेरी दृष्टि भी कभी इस ओर नहीं गई थी और न ही अन्य कोई व्यक्ति ऐसी कल्पना कर सकने में समर्थ है। परन्तु जून ६२ से जब मेरे पास छात्र-छात्राओं ने वेदसार के पढ़नें में कुछ सहायता मांगी, तो मैं ने देखा कि वेदसार में वैदिक मन्त्रों के अर्थों में ही गड़बड़ नहीं है, अपितु मन्त्रों का पाठ भी बिना विचारे ही बदल दिया गया है।

४-अशुद्धियों का अपाकरण तथा प्रस्तुत लेख :—

लेख लिखने के अन्तरवर्ती काल में मैं होश्यारपुर भी गया। परन्तु तब श्री विश्वबन्धु जी के पास बात करने का समय नहीं था। वहां पर पता यह भो चला कि वेदसार का नवीन संस्करण प्रकाशित हो रहा है। नवीन संस्करण २५ या २६ अगस्त ६२ को प्रकाशित हुआ, तदनन्तर V. P. P. द्वारा यह मुझे ४ सितम्बर ६२ को मिल पाया। संस्करण (शैक्षणिक) देखने पर आशायें धूल में मिल गईं और विश्वविद्यालय के प्रमुख अधिकारियों तथा सदस्यों की सेवा में अपना प्रतिवेदन भेजा, बहुतों को मूल वेद की संहिताओं से भी पाठ को मिला कर भी दिखाया। इस के साथ ही श्री विश्वबन्धु जी को भी लिखा कि वेदसार का कलेवर परिवर्तन करें अथवा इस में शुद्धिपत्र लगा देवें। मेरा सहयोग यदि अपेक्षित हो तो मैं योगदान के लिए तैयार हूं। परन्तु यह सभी प्रयत्न व्यर्थ रहे और कहीं से भो ध्यान विशेष नहीं दिया गया। हो सकता है वर्तमान प्रजातन्त्र में अधिकारी ऐसा करने में असमर्थ हों।

मैं नहीं चाहता था, कि प्रस्तुत वेदसार नामक संग्रह के अविवेकपूर्ण तथा असम्बद्ध और गढन्त पाठों या अर्थों पर कलम चला कर अपने श्रम को व्यर्थ करता और आज के आपत्तिकाल में राष्ट्रीय धन का अपव्यय करता। परन्तु सभी अधिकारी संस्कृतज्ञ नहीं हैं, जो संस्कृतज्ञ हैं, वह किसी न किसी परिस्थिति से विवश हैं और इस पुस्तक का निवारण हो नहीं रहा। इस प्रकार वेद को गलत पढ़ाये जाने से छात्र भ्रम में पड़ रहे हैं, परीक्षा में भी वह पूर्ण अंक प्राप्त नहीं कर पायेंगे। इस से भारत के भावी नागरिकों का जीवन भी खराब होगा और वह भारतीय संस्कृति

के आधार भूत वेदों का ज्ञान प्राप्त नहीं कर पावेंगे। इन्हीं कारणों से यह आलाेचनात्मक लेख प्रस्तुत करना अनिवार्य हो गया है। संभवतः इन्हीं परिस्थितियों में श्रीभर्तृहरि ने लिखा था, कि—

बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अबोधोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्॥

जो लोग विद्वान् हैं वे मत्सर में पड़े हुए हैं अर्थात् इधर परिश्रम नहीं करते। अधिकारी अपने अधिकारमद में हैं, तथा शेष जन समझ नहीं पाते। इन कारणों से युक्तियुक्त भाषण अपने आप में ही जीर्ण हो रहा है।

[विशेष :—अब लेख के आरम्भ में ही हम वेद के मूल पाठ, वेद की अर्थपद्धति, वेद के व्याकरणादि तथा स्वामी दयानन्द जी और पाश्चात्य विद्वानों की मान्यताओं के विषय में संक्षिप्त परिचय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर देना आवश्यक समझते हैं।]

५-वेद के मूलपाठ के विषय में :-

यह सब होते हुए भी तथ्य कोई वस्तु है और मनुष्य-जीवन में सत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः सत्य को छिपाना या उस से दूर रहना भी महापाप है। आजकल के शेक्सपियर या मिल्टन आदि की कविता में या किसी सामान्य व्यक्ति के वाक्यों में भी कोई व्यक्ति किसी प्रकार का हेरफेर नहीं कर सकता। धार्मिक ग्रन्थों का तो कहना ही क्या ? यदि कुरान में ज़रा सा भी फेर-बदल किया जावे, तो कुहराम मच जावेगा। ऐसा फेरबदल करने वाले का जीवन भी खतरे में पड़ सकता है। जिस के उदाहरण कम नहीं हैं। यही दशा बाइबिल या दूसरे धर्मग्रन्थों की है। वेदों

की ऐसी दशा नहीं रहने पर भी हमारे पूर्वजों ने अपने जीवन लगा कर घनपाठ तथा पञ्चसन्धियुक्त विकृतियों में वेदों को स्मरण रख कर मात्रा-मात्र का भी परिवर्तन नहीं होने दिया है। इसी लिए शिक्षाकारों ने घोषित कर दिया, कि—

"मन्त्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्॥"

यदि मन्त्र में स्वर या वर्ण का परिवर्तन हो जावे, तो उसका वह अर्थ नहीं रहेगा, वरन् इन्द्रशत्रु की भांति अर्थ बदल जावेगा। स्वर बदल जाने से ही इन्द्र को मारने वाला इन्द्र से मारा जाने वाला बन जावेगा।

प्रस्तुत वेदसार में स्थान-स्थान पर मनमाने ढंग से पाठ-परिवर्तन किया गया है। कुछ स्थलों में हम पहले तो छापे की अशुद्धियां समझ रहे थे। इसी कारण श्री विश्वबन्धु जी को इस में शुद्धिपत्र लगाने को लिख रहे थे। परन्तु जनवरी ६३ की विश्वज्योति के वेदामृत में पुनः उसी प्रकार का भ्रष्ट पाठ देखकर हमारा यह निश्चय दृढ़ हो गया, कि इस में छापे की कोई अशुद्धि नहीं है। जो भी पाठ भ्रष्ट हैं, उन के लिए सम्पादक महोदय (वेदसार प्रस्तावना पृष्ठ आठ के लेखानुसार) स्वयमेव उत्तरदायी हैं। अब तक विद्वानों में वेद के अर्थ या संगति के विषय में ही मतभेद देखा जाता रहा है। कानूनी भाषा के अर्थ या संगति में भेद होने पर ही अदालतों में मुकदमे पर उत्तरोत्तर जिरह चलती है और मुकदमे की अपील होती है। वाद-विवाद अथवा तर्क-वितर्क भी अर्थ या संगति में ही मतभेद होने पर चलते हैं। पाठ पर ही कुठाराघात कर दिया जावे, ऐसा कहीं भी संगत नहीं है। ऐसा करने से वक्ता या लेखक की आत्मा का ही हनन हो

जाता है। यदि वेदसार के सम्पादक महोदय के लेखों या वक्तव्यों को ही थोड़ा सा भी तोड़मरोड़ कर कहीं प्रस्तुत किया जावे, तो तोड़मरोड़ करने वाला चाहे कितना हो विद्वान् हो या किसी अन्य प्रकार से महत्त्व रखता हो, उसका ऐसा तोड़मरोड़ इन सम्पादक महोदय को भी कदापि मान्य नहीं होगा।

सामान्य सिद्धान्त है, "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" जो शब्द जिस अर्थ को रखता है, वही उसका अर्थ है। इसी आधार पर तत्पर शब्द से तात्पर्य शब्द की उत्पत्ति हुई है। वक्ता के शब्दों का अर्थ लगाते हुए वक्ता के तात्पर्य की ओर सब की दृष्टि रहा करती है। अन्य व्यक्ति के शब्दों को कोई भी अन्य व्यक्ति बदल देने का कोई अधिकार नहीं रखता।

फिर वेद के शब्द तो बहुत गवेषणा तथा महत्त्वपूर्ण ढंग से रखे गये हैं। वर्णविन्यास भी वेद में विशेष महत्त्व रखता है। तभी तो यास्क ने निरुक्त में कहा है :—

"पुरुषविद्याऽनित्यत्वात् कर्मसंपत्तिर्मन्त्रो वेदे।" निरु० १, १, ३

पुरुषों की विद्या अनित्य है, तभी वेद में मन्त्र कर्मों के संपादन करने वाले हैं। हम किसी वैदिक विषय को किसी कारणवश न समझें, यह दूसरी बात है। इसके लिए हमें समझने के लिए प्रयास करना चाहिए। अथवा अपने से बड़े लोगों से पूछना चाहिए। गीता में भगवान् कृष्ण ने—

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।"

प्रणिपात, परिप्रश्न तथा सेवा तीन उपायों द्वारा उस ज्ञान की प्राप्ति बताई है। नीति वचन है—

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा परस्योक्तं करोति न।
स विनाशमवाप्नोति०।"

जिसकी अपनी बुद्धि कार्य न करे और जो दूसरे का वचन माने नहीं, उस का विनाश हो जाता है। यास्क ने मन्त्रार्थ न समझने वाले के लिए स्थाण्वन्धन्याय का प्रयोग किया है। यदि हम मन्त्रार्थ में नासमझी से काम लेवें, तो हम पर भी वही स्थाण्वन्ध-न्याय लागू होगा। स्थाण्वन्धन्याय में कहा है—

नैष स्थाणोरपराधः, यदेनमन्धो न पश्यति।" निरु० १, ५, १६;

यदि अन्धा ठूंठ को नहीं देखता है, तो इसमें ठूंठे का अपराध नहीं है। ऐसा होने पर यदि अन्धे को ठोकर लग जावे, तो अन्धे का ही अपराध माना जावेगा, जिसे कुछ भी सूझता नहीं है। अतः उस अन्धे का घर से चलते समय ही कर्तव्य हो जाता है, कि वह या तो घर से चले ही नहीं, यदि चले तो अपने साथ किसी साथी या लाठी को अवश्य ले चले। यदि वह न तो लाठी का सहारा लेता है और न ही साथी की अपेक्षा रखता है, तो उसे घर से बाहर चल देने पर ठूंठे आदि से ठोकर लगेगी ही और चोट भी। इस में ठूंठे को दोष नहीं, दोष तो अन्धे को ही है। इसी प्रकार वेद के अर्थों में संदेह होने पर भी वेद के अन्य विद्वानों से परामर्श तथा जिज्ञासा ही समुचित है, न कि वेद के पाठ को ही बदल देना। निरुक्त १, ५, १६ में ही लिखा है—

"यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।"

जैसे जनपदों में विद्या से पुरुष की गणना होती है, वैसे ही शास्त्र के पारदर्शी तथा अवारदर्शी विद्वानों में भूयसी विद्या वाला विशिष्ट विद्वान् ही प्रशस्य होता है। इस प्रकार यदि विद्वानों के विमर्श के विना ही वेद का पाठ बदल दिया जाता है, तो यह एक

महान् अक्षम्य अपराध हैं। जिसके लिए आने वाली पीढ़ी हमें कोसे विना नहीं रह सकती। इसी कारण भारतीय संविधान के अनुसार भी यह आपत्तिजनक है। जैसे रंगीला रसूल के विषय में हो चुका है। पाठकों को स्मरण ही होगा कि अथर्ववेद १४, २, १७ में 'देवकामा' तथा 'देवृकामा' पाठों पर कितना विवाद हो चुका है। कालिदास ने कुमारसंभव के पांचवें सर्ग में वटु-पार्वती संवाद में 'कपालिन:' शब्द का प्रयोग किया है। अलंकारशास्त्र में उस के स्थान पर 'पिनाकिन:' पाठ कर के इस पाठ का अनौचित्य छात्रों को अवगत कराया जाता है। जिस से 'कपालिन: पाठ की महत्ता स्थिर होती है। इस कारण वेद के पाठ या अर्थ में तनिक भी संदेह होने पर वैदिक विद्वानों का सम्मेलन बुलाया जाना चाहिए और उसमें पूर्वापर दोनों पक्षों पर जम कर विचार होना चाहिए। उस विचार-विनिमय को अविकल रूप में छाप देना चाहिए। ताकि उसमें भी रह गई गलती ठीक की जा सके। बौद्धों ने अपने त्रिपिटकों के सम्बन्ध में ऐसा ही किया है और बाइबिल के सम्बन्ध में आज भी ऐसा ही किया जाता है। यदि वेद के विषय में ऐसा नहीं किया जाता, तो वेद के प्रति तथा वैदिक वाङ्मय के प्रति यह संगत नहीं है और अन्याय है। वेद के द्रष्टा उन महर्षियों की आत्मा का हनन है और अनुष्ठान तथा परम्परा वालों का घोर अपमान। जिनकी धरोहर के रूप में हमें यह वेद अक्षुण्ण निधि के रूप में प्राप्त हुए हैं।

अब पाठक इस सम्बन्ध में इसी वेदसार के १९३३ वाले संस्करण से इसी भावना को देख लेने की कृपा करें। वहां पर

पहला मन्त्र है—

"विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि ।
असूयकायाऽनृजवेऽयताय न मा ब्रूया वीर्यवती तथा स्याम् ।।१।१।।
(निरु० २. १, ४)

अन्तिम मन्त्र हैं—

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम् ।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम् ।।
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम् ।।४।। (अथर्व १९, ७१, १)
यस्मात् कोशादुदभराम वेदं तस्मिन्नन्तरवदध्म एनम् ।
कृतमिष्टं ब्रह्मणो वीर्येण तेन मा देवास्तपसाऽवतेह ।।५।।८८।।
(अथर्व १९, ७२, १)

इन मन्त्रों के अर्थ १९३३ के संस्करण के अनुसार यों हैं :—

(पहले मन्त्र का अनुवाद) "ऋषियों की अवतरणिका—

१. कहते हैं, विद्या ब्राह्मण के पास आकर बोली, 'मेरे प्यारे', मैं तेरी संपत्ति हूं। तू मेरी रक्षा कर। मुझे दोषदर्शी, कुटिल तथा व्यभिचारी जनों से बचाता रह। ताकि मेरा बल कम न होने पावे।"

(अन्तिम दो मन्त्रों का अनुवाद) ८८. "सम्प्रसाद—

मैं ने इस प्रकार कामनाओं को पूर्ण करने वाली, वेदमाता की महिमा का विस्तार किया है। (मनुष्यों को) पवित्र कर के द्विज बनाने वाली (यह ऋचाएं) (सब को उन्नतिपथ पर) चलाती रहें। (हे परम पवित्र ऋचाओ) तुम हमें आयु, प्राण, प्रजा, पशु, कीर्त्ति, सम्पत्ति और ब्रह्मतेज प्रदान करो और ब्रह्मलोक में जा प्रतिष्ठित होवो ।।५।। जिस कोष से हम ने वेद को निकाला था,

उसी के अन्दर इसे सुरक्षित करते हैं। ब्रह्म के प्रताप से (हम ने) यज्ञकर्म पूर्ण कर लिया है। उस तप के प्रभाव द्वारा देवता सदा हमारी रक्षा करें॥"

यद्यपि ऊपर उद्धृत किये गए अनुवाद को भी हम ठीक नहीं मानते, जैसे कि सामान्य पाठक भी दो कोष्ठकों को इकट्ठे देख कर चौंक जावेगा। तथाच वेद की ऋचाओं में 'मेरे प्यारे' आदि शब्द फिल्मी आलापों का ही स्मरण कराते हैं। तथापि १९३३ के 'वेदसारो नाम प्रथमः परिच्छेदः' में मन्त्रों के रखने की पुरानी परिपाटी ही है। स्वरनिर्देश पद्धति भी वही है और वेद की रक्षा तथा वेद की महत्ता का भी पूरा ध्यान है। स्वरनिर्देश में कहीं २ छापे की अशुद्धियां हैं, परन्तु पाठ को बदलने का दुरुद्योग नहीं किया गया।

इस ९३३ वाले वेदसार का १९५१ में आमूलचूड़ परिवर्तन क्यों हो गया? यह समझ में नही आ रहा! "प्रथमः परिच्छेदः" का स्थान "साध्यखण्ड" ने ले लिया और ४५० के स्थान पर २२३ मन्त्र रहे, कुछ घटे तो कुछ बढ़े। हिन्दी को मन्त्रों के सामने छापने का एक प्रयत्न अवश्य स्तुत्य है। जैसे प्रथम परिच्छेद के अनन्तर द्वितीय परिच्छेद देखने में नहीं आया और उसी पर वेदसारः की चिप्पी चिपका दी गई। ठीक उसी प्रकार १९५१ के वेदसार का साध्यखण्ड ही वेदसार बन गया और सिद्धिखण्ड तथा साधनखण्ड अभी तक कल्पना जगत् में ही हैं। अस्तु, यह विषयान्तर है, परन्तु यह समझ में नहीं आ रहा, कि १९३३ वाली वेदरक्षा की भावना १९५१ में कैसे बदल गई? इस में क्या कारण हुए? (हमारा तो १९३३ में संस्कृत विद्या में छात्ररूप में ही प्रवेश हुआ था, अतः अटकल से काम लेना

अत्यावश्यक हो गया है।) क्या १९३३ के वेद भिन्न थे और १९५१ के भिन्न ? अथवा १९३३ में सम्पादक महोदय की प्रतिष्ठा कुछ कम थी ? जो कमी १९५१ में पूर्ण हो जाने से अब वेद को सुरक्षित करने की चिन्ता मिट गई ? या १९३३ में जो संस्करण प्रकाशित हुआ था वह "अपने सद्गुरू, महर्षि दयानन्द जी की निर्वाण अर्धशताब्दी के पवित्र पर्व पर, सरल हृदय वेदभक्तों के करकमलों में भेंट" वैदिकाश्रम लाहौर १५-१०-१९३३ (देखें संस्करण १९३३ प्रस्तावना की १७ से २२ तक पंक्तियां) के दिन किया गया था ? आज वह दिन तथा भावनाएं पाकिस्तान बन जाने से विस्मृति के गर्भ में जा चुकी हैं, क्यों कि अब संस्थान साधु आश्रम होश्यारपुर में है ? अथवा पूर्वकाल में राजा-महाराजाओं तथा धनी-मानियों से दानप्राप्ति होती थी, अतः उनकी श्रद्धा को अक्षुण्ण बनाये रखने की आवश्यकता थी, ताकि सम्बन्ध बना रहे और दान मिलता रहे। वर्तमान काल में तो राज्य सरकारें तथा विश्वविद्यालय महती दानराशि दे देते हैं और वह सब धर्म-निरपेक्ष हैं। अतः अब श्रद्धा या विश्वास का प्रश्न ही पैदा नहीं होता ? या यही समझ लिया कि आज वेद के नामलेवा लोग ही रह गए हैं, पढ़ने-पढ़ाने से तो किसी को कोई मतलब नहीं है, अतः जो चाहो पाठ बदल दो ? या पाकिस्तान बन जाने के कारण वहां से जो पुस्तकें लाई गईं, उनका पाठ बदल कर छाप देने की स्वतन्त्रता भी भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही प्राप्त हो गई है ? इन सभी कारणों में से कोई भी तो ऐसा मूलभूत कारण प्रतीत नहीं होता, जिससे प्रभावित हो कर ऐसा पाठ-परिवर्तन कर दिया गया हो और वेदपाठ के प्रति उपेक्षा बरती गई हो। फिर वाङ्मय को यथावत् प्रस्तुत करना ही तो साहित्यिक ईमानदारी है। यदि

वाङ्मय को यथावत् प्रस्तुत नहीं किया जाता, तो इस प्रकार के पाठ-परिवर्तन का उलटा प्रभाव यह भी हो सकता है, कि वेद का जो चाहे पाठ वदल दिया जायेगा और हम कुछ भी नहीं कर सकेंगे। साथ 'एजुर्वेदम्' जैसी गढन्त पुस्तकों को भी प्रमाणता मिल सकेगी ? इस कारण पाठ को यथावत् प्रस्तुत करना परमावश्यक है – ऐसा सभी मानते हैं और करते हैं।

६-वेद के अर्थ के विषय में :—

(क) लौकिक वाङ्मय में भी अर्थ निर्णय का सामान्य सिद्धान्त है, कि—

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥
शब्द शक्ति प्रकाशिका (श्लो० २०) में उद्धृत

शक्तिग्रह के लिए यह आठ मुख्य हेतु हैं :—१ व्याकरण, २ उपमान, ३ कोश, ४ आप्तवाक्य, ५ व्यवहार, ६ वाक्यशेष (प्रकरण), ७ विवृति (विवरण) और ८ सिद्धपद की सन्निधि (दूसरे प्रसिद्धपद की समीपता)।

मीमांसकों का सामान्य सिद्धान्त है, कि—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये॥

तात्पर्य का निर्णय करने के लिए यह सात लिङ्ग हैं, १ उपक्रम (आरम्भ), २ उपसंहार (समाप्ति), ३ अभ्यास (आवृत्ति), ४ अपूर्वता (नवीनता), ५ फल (प्रयोजन), ६ अर्थवाद (प्रशंसा-वाक्य), ७ उपपत्ति (युक्ति)। इन सातों लिङ्गों=साधनों पर

ध्यान रखते हुए ही हम ग्रन्थ या कविता के आशय को प्राप्त कर सकते हैं। इसी को आधार मान कर लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने गीतारहस्य जैसे अपूर्व ग्रन्थ को लिखा और प्रतिष्ठा पाई।

'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' पर तो साहित्य तथा मीमांसा के ग्रन्थों में प्रायः विभिन्न दृष्टियों से बहुत विचार किया गया है। इधर वेदसार में व्याकरण, कोष, आप्तवाक्य, उपमान तथा व्यवहार आदि की विचारसरणि को स्थान २ पर छोड़ा ही गया है। मीमांसा के उपक्रम या उपसंहार आदि का अवसर ही नहीं रहने दिया गया। क्यों कि प्रस्तुत संग्रह में —जहां चाहे जिस वेद के जिस किसी सूक्त से जिस किसी मन्त्र को जैसा चाहे पाठ बदल कर के जिस शीर्षक में इच्छा हुई रख दिया है। इस प्रकार की अनर्गल स्थिति में वेदसार के पढ़ने वाले छात्र, वेद का कितना ज्ञान प्राप्त करेंगे? वेद का क्या सार पायेंगे? यह भगवान् ही जानें! परन्तु देख कर और समझ कर भी हम इस जीती मक्खी को न तो स्वयं निगल सकते हैं और न ही छात्रों को ऐसा करने दे सकते हैं। यदि इस प्रकार वेद को भ्रष्ट कर के पढ़ाया जाना है? तो फिर वेद को न पढ़ाया जाना ही श्रेयस्कर है। वेद के नाम पर इस प्रकार की पुस्तकें छाप कर राष्ट्रीय धन का व्यर्थ अपव्यय भी नहीं करना चाहिए।

(ख) अर्थ-निर्णय के लिए मीमांसा दर्शन ३, ३, १४ में १ श्रुति, २ लिङ्ग, ३ वाक्य, ४ प्रकरण, ५ स्थान और ६ समाख्या यह छः प्रमाण दताये हैं। इनमें पूर्व प्रमाण प्रबल तथा पर प्रमाण दुर्बल बताया गया है। इसमें हेतु दिया है—अर्थविप्रकर्ष=अर्थ की खींचतान या दूरी। उदाहरण के रूप में देखें :- सैन्धव शब्द

नमक तथा सिन्धु देश के घोड़े की समाख्या प्रसिद्ध है। यदि सैन्धव लाने के लिए रसोई में कहा जायेगा। तो इस समाख्या से नमक लिया जायेगा और यही वाक्य यदि यात्रा के समय में बोला जायेगा तो अर्थ होगा घोड़ा लाओ। इस प्रकार समाख्या से स्थान प्रबल होता है। यदि रसोई में घोड़े का प्रकरण चल रहा हो, या यात्रा में भी संगतरे आदि के साथ नमक की आवश्यकता हो, तो स्थान से प्रकरण ही बलवान् होगा और तदनुसार ही अर्थ निर्णय किया जायेगा। प्रकरण से भी वाक्य बलवान् होता है, जब कि प्रकरण प्राप्त घोड़े आदि को कर्मरूपविशेष होने पर छोड़ दिया जाता है। वाक्य से भी लिङ्ग बलवान् होता है, जब कि चितकबरा आदि तथा स्त्री-पुरुषादि लिङ्ग भेद से ही विशेष निर्धारण किया जाता है। इस प्रकार लिङ्ग प्रमाण से घोड़े आदि का बोध होने पर यदि वक्ता लाओ (आनय) आदि पदों पर (उदात्त=) विशेष बल दे कर बोलता है। तो नौकर आदि घोड़ा लाने में ही तत्परता दिखाता है। इस प्रकार उक्त छः प्रमाणों में श्रुति प्रमाण ही बलवत्तर है।

(ग) मीमांसा दर्शन १, १, ५; में कहा गया है, कि—

"औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः"

अर्थात् शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध उत्पत्तिसिद्ध है। मीमांसादर्शन वस्तुतः वाक्यमीमांसा=वाक्यार्थविचार ही तो करता है। इसी कारण मीमांसा को पूर्वमीमांसा तथा उत्तर-मीमांसा दो भागों में माना जाता है। पूर्वमीमांसा में पूर्वकाण्ड= कर्मकाण्ड का विचार है, तो उत्तरमीमांसा में उत्तरकाण्ड=ब्रह्म-काण्ड का विचार है। मीमांसा दर्शन वेद के अर्थविचार में प्रमुख

स्थान रखता है। वेद के कर्मकाण्ड तथा ब्रह्मकाण्ड दोनों ही मीमांसा के आधार पर अवगत किए जा सकते हैं। अभियुक्त आचार्यों का वचन है, कि—"पूजित-विचार-वचन मीमांसा।"

वेद के अर्थविचार में पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा को यदि छोड़ दिया जावे तो आज तक वेद पर किया गया विचार व्यर्थ होगा। इस से यही समझा जावेगा कि हम ने विचार करते समय मीमांसा को समझने का प्रयास ही नहीं किया, या हमारी बुद्धि ही मीमांसा में नहीं चल पाई।

(घ) शब्दार्थविचार तथा शब्दार्थसम्बन्ध पर संस्कृत साहित्य में प्रमाण भरे पड़े हैं और इतना गहन विचार हुआ है। कि हम कहीं भी मनमानी कर ही नहीं सकते। जब संस्कृत भाषा का प्रचार था। तो एक-एक वाक्य का अर्थविचार किया जाता था। तब शास्त्र का अर्थ=शास्त्रार्थ करते हुए कोटि पर कोटि चला करती थी। उदाहरण के रूप में आज भी अनेक ग्रन्थरत्न उसके साक्षी हैं। जैसे स्मृतियों पर लिखे गये निबन्ध ग्रन्थ हैं, पाणिनि के सूत्रों पर किया गया उत्तरोत्तर विचार है, दर्शनग्रन्थों पर लिखे गए क्रोडपत्र हैं, साहित्यशास्त्र में अभिधा, लक्षणा, व्यंजना, तात्पर्या वृत्तियां, ध्वनि का सूक्ष्मविचार और अनेकों अलंकार हैं। यह सभी विस्तार शब्दार्थविचार तथा वाक्यार्थविचार पर ही तो है।

(ङ) योगदर्शन में लिखा है—

"शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्संकरः, तत्प्रविभागसंयमात्तु सर्वभूतरुतज्ञानम्" योग ३, १७;

इस पर भाष्य करते हुए व्यास जी ने लिखा है—

"गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्, य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित् ।"

वाक्यपदीय के प्रसिद्ध टीकाकार श्री हेलाराज ने लिखा है, कि :

"शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः, अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याय्येत"
वा० प० ३, ९६;

अर्थात् कोई एक शब्द किसी अर्थविशेष को कहता है, इसमें सम्बन्ध हेतु है, यदि ऐसा न हो तो सब शब्दों से सभी अर्थ कहे जावेंगे।

वाक्यपदीय में अर्थ के नियामक नीचे लिखे श्लोकों में बताए हैं। जिन्हें सभी साहित्यकारों ने स्वीकार किया है और लागू किया है

"१ संयोगो, २ विप्रयोगश्च, ३ साहचर्यं, ४ विरोधिता। ५ अर्थः, ६ प्रकरणं, ७ लिङ्गं. ८ शब्दस्थान्यस्य सन्निधिः ॥ ९ सामर्थ्यम्, १० औचिती, ११ देशः, १२ कालो, १३ व्यक्तिः, १४ स्वरादयः। शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥"

अर्थात् संयोग आदि १४ (लगभग) शब्द का अर्थ से सम्बन्ध टूटने नहीं देते और विशेष की स्मृति का हेतु बनते हैं। जब शब्द का अर्थ में भेद पड़ता है तो उस में कारण बताते हुए भर्तृहरि ने लिखा है—

"१ वाक्यात् २ प्रकरणाद् ३ अर्थाद् ४ औचित्याद् ५ देश-६ कालतः। शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥"

अर्थात् उक्त छः कारणों से शब्दों के अर्थ में फेर बदल आता है। केवल मात्र रूप से ही नहीं।

वाक्यपदीय के अन्य टीकाकार हरिवृषभ ने एक स्थल पर लिखा है, "शब्दानां यतशक्तित्र नियतार्थप्रत्यायनसामर्थ्यम्"= शब्दों में नियत अर्थ की प्रतीति का सामर्थ्य है, अतः उनकी शक्ति नियत है, निश्चित है।

मनमाने ढग से अर्थों को ताड़ा मरोड़ा नहीं जा सकता। बल्कि निश्चित अर्थ पर ही शब्द प्रयोग तथा विचार किया जा सकता है। छात्रों को भी वही निश्चित अर्थ सिखाने में हित है। यदि निश्चित अर्थ छोड़ कर छात्रों को अन्य अर्थ सिखाये जावेंगे, तो छात्र या तो अज्ञ बने रहेंगे और यदि उन्होंने कुछ पढ़ा तो वह हमें अज्ञ कहेंगे।

फिर वैदिक साहित्य में तो कहना ही क्या है! जहां पर प्रत्येक शाखा के प्रातिशाख्य में शब्दसिद्धि उस शाखा के अनुसार की गई है। प्रत्येक शाखा के उच्चारण की प्रक्रिया उस शाखा के शिक्षा-ग्रन्थ में भली प्रकार कही गई है। प्रत्येक शाखा के प्रतिपाद्य कर्मकाण्ड के लिए श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, शुल्बसूत्र तथा धर्मसूत्र विद्यमान हैं। छन्दस्, ऋषि तथा देवता बताने के लिए अनुक्रमणी ग्रन्थ और बृहद्देवता आदि वर्तमान हैं। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्यौतिष तथा छन्दस् को वेद के छः अङ्ग ही तो माना गया है। इसी कारण स्मृति में कहा जाता है—

"तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्म लोके महीयते"

साङ्ग वेद पढ़ने से ही लोक में महत्त्व प्राप्त होता है।

"ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च"

ब्राह्मण का धर्म है कि वह निष्कारण छः अंगों सहित वेद को पढ़े और समझे। इसीलिए विष्णुमित्र कृत वर्गद्वयवृत्ति में उद्धरण दिया है—

"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं योगार्षमेव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे ॥"

मन्त्र का ज्ञान प्राप्त करते समय स्वर, वर्ण, अक्षर, मात्रा, देवता, विनियोग तथा ऋषि का ज्ञान परमावश्यक है।

दक्षस्मृति में बताया है कि वेदाभ्यास पांच प्रकार से किया जाता है—

"वेदस्वीकरणं पूर्वं विचारोऽभ्यसनं जपः।
तद्दानं चैव शिष्येभ्यो वेदाभ्यासो हि पञ्चधा ॥"

द० स्मृ० २, ३४;

पहले वेद को १ गुरुमुख से पढ़ना, तदनन्तर २ विचार ३ अभ्यास और ४ जप और तब ५ शिष्यों को पढ़ाना इस प्रकार पांच प्रकार से वेदाभ्यास किया जाता है। (आजकल छठा प्रकार प्रचलित है—स्वयं विना पढ़े ही वेद पढ़ाने लग जाना)। यजुः प्रातिशाख्य में कहा है—

"स्वर संस्कारयोश्छन्दसि नियमः"
"स्याद्वाम्नायधर्मित्वात्"

वेद में स्वर और संस्कार का नियम है—क्योंकि यह वेदाभ्यास के लिए परमावश्यक है। यास्क तो निरुक्त में स्थान स्थान पर स्वरसंस्कार की बात कहते हैं। अतः हमें वेदार्थ-विचार में विशेष सावधान रहना चाहिए। ताकि हम वेद का ठीक अर्थ समझें और आने वाली छात्रपरम्परा को ठीक अर्थ

समझने की शक्ति तथा योग्यता देवें। ऐसा न हो, कि हम गलत ज्ञान दे कर गलत परम्परा डालें। गलत अर्थ करने या अर्थ न जानने को यास्क ने "स्थाणुरयं भारहार:" भार ढाने वाला स्थाणु कहा है। टीकाकारों ने "स्थाणुर्गर्दभ:" अर्थ किया है। दूसरा प्रचीन उक्ति—

"यथा खरश्चन्दनभारवाही भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।"

आदि कही जाती है। जिसका अर्थ है, जैसे चन्दन ढोने वाला गधा चन्दन के भार को जानता है, परन्तु चन्दन के गुणों को नहीं जानता। इसी का अन्य रूप है—

"अर्थमजानानां नानाविध-शब्दमात्र-पाठ-जुषाम्।
उपमेयश्चक्रीवान् मलयजभारस्य बोढेव॥"

अर्थात् अर्थ को न जानने वाले और नाना प्रकार के शब्दों का पाठ मात्र ही कर देने वाले लोगों के लिए तो वह गधा ही उपमेय है जो कि चन्दन के भार को ढोता है।

अतः वेद के अर्थ के विषय में हमें सदा सावधान रहना चाहिए। आज के वैज्ञानिक युग में तो सभी साधन उपलब्ध हैं। पुराने युग के उड़नखटोले और आग्नेयास्त्रादि भी आज बन रहे हैं। चन्द्रलोकादि की यात्रा भी संभव है। ऐसी स्थिति में विज्ञान का आश्रय ले कर अब हमें विशेष प्रयास करना चाहिए। जिस ज्ञानराशि रूप ग्रन्थों को हमारे पूर्वजों ने कण्ठाग्र कर के रखा और उस में मात्रा-मात्र का भी परिवर्तन नहीं होने दिया। वह ज्ञानराशि आज के युग में हमारे लिए कितनी उपादेय है और कैसे है? यदि हम वेद की वेदता=ज्ञानस्वरूपता को प्राप्त करना चाहते हैं, तो आज अर्थ-विचार के लिए युग की

बहुत ही अनुकूलता है। आशा है विज्ञजन मेरे इस परम्परासम्मत मत में सहमति ही रखते होंगे। स्वर्गीय मधुसूदन विद्यावाचस्पति जी का ऐसा लक्ष्य रहा है और उन्होंने वेद के विज्ञान के विषय में बहुत से ऐसे ग्रन्थ लिखे हैं। जिन्हें महामहोपाध्याय गिरधरशर्मा चतुर्वेदी अपने ग्रन्थों में प्रदर्शित करते हैं। कुछ अन्य वेदप्रेमियों का भी ऐसा प्रयास है। जैसे स्वर्गीय पण्डित ठाकुरदास रिटायर्ड सैशन जज जम्मू व काश्मीर राज्य ने चारों वेदों का अंग्रेजी में अनुवाद लगभग दस हजार पृष्ठ कर रखा है। विचारपूर्ण तथा तर्कसंगत नवीन अर्थप्रणाली भी ग्राह्य ही है। त्याज्य केवल विचारहीनता है, या स्वच्छन्दगामिता है। मन्त्रों के सूक्तादि का क्रम तोड़ने से प्रकरण टूट जाता है और प्रकरणभ्रष्ट वाक्य जैसा अर्थ देता है, वह सभी जानते हैं। वेद में प्रकरण सुव्यवस्थित हैं। उन पर मनन तथा निदिध्यासन की आवश्यकता है।

७-वेद तथा व्याकरणादि :—

इस प्रकार पाठ तथा अर्थ की महत्ता का विचार कर के थोड़ा सा व्याकरण की उपयोगिता के विषय में भी निर्देश कर देना उचित समझता हूं। इसके विना प्रस्तुत पुस्तक की आलोचना पूर्ण नहीं होगी।

वैदिक शब्दों के व्याकरण में पाणिनीय व्याकरण तो सामान्यरूप से प्रयुक्त होता ही है। प्रत्येक शाखा के विशिष्ट नियमों को प्रातिशाख्य तथा शिक्षा आदि ग्रन्थ स्पष्ट करते हैं। आदि कहने से निरुक्त तथा ब्राह्मण आदि पूर्ववर्ती सभी ग्रन्थों का ग्रहण है। जिन में कहीं न कहीं किसी न किसी प्रकार से शब्दों की व्युत्पत्ति बताई ही गई है। अतः वैदिक शब्दों की सिद्धि के

लिए संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, निरुक्त, व्याकरण, प्रातिशाख्य, शिक्षा आदि से आरम्भ कर के धर्मशास्त्र के निबन्धग्रन्थों या अर्वाचीन संस्कृत के सभी ग्रन्थों की ओर दृष्टि देनी ही पड़ेगी। यहां तक कि वेद की आंख ज्यौतिष शास्त्र के द्वारा ही हमें वेद के ज्यौतिष सम्बन्धी विषयों की जानकारी प्राप्त करनी होगी। इसी प्रकार अथर्ववेद की जड़ी-बूटियों के परिचय के लिए आयुर्वेद का ज्ञान परमावश्यक है। इस के साथ ही यह भी आवश्यक है कि लुप्तविद्याओं के परिज्ञान के लिए हमें इधर-उधर गवेषणा करनी पड़े। जैसे सर्पविद्या आदि वैदिक विद्याओं में बताई हुई जड़ी-बूटियां पहचानने के लिए सपेरे आदि को भी हमें गुरु बनाना पड़ेगा। परन्तु शब्दों की निराधार प्रकृति-प्रत्यय कल्पना अथवा उन शब्दों पर विकारों को असंगत रूप में थोपना कभी भी युक्तियुक्त नहीं है।

निरुक्तकाल से आरम्भ होने वाले भाषाविज्ञान को पाश्चात्य विद्वानों ने एक नवीन तथा उपयुक्त रूप दिया और वह भाषाओं की परम्परा का अविच्छिन्न सम्बन्ध बताने के कारण तथा समुचित समन्वय करने से सम्मान प्राप्त कर चुका है। भाषाविज्ञान का भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन में बड़ा महत्त्वपूर्ण उपयोग होने से एक विशिष्ट स्थान है। परन्तु उसे किसी भाषा का प्रमाण न दे कर या निराधार कल्पना के रूप में प्रस्तुत कर के स्वच्छन्द रूप से प्रयोग करना इस उच्चतम विज्ञान (भाषा विज्ञान) के जन्मदाताओं का भी अपमान है और स्वभावतः चलती हुई भाषाओं की प्राकृत लड़ी का अनायास भङ्ग, जिसके कारण इस नवीन विज्ञान का यह दुरुपयोग ही समझा जा सकता है। तभी तो महाभाष्यकार पतञ्जलि ने

बताया है, कि वैयाकरण शब्दों को गढ़ते नहीं हैं, परन्तु गढ़े गढ़ाए अर्थात् चालू शब्दों को ध्यान में रखकर उन की व्युत्पत्ति मात्र कर देते हैं। जब कभी बेढंगी शंका महाभाष्यकार के सम्मुख हुई, तो उन्हों ने तुरन्त कहा, 'लोकं पृच्छ' लोक से पूछो। यास्क ने भी कहा है, कि—

'अर्थनित्यः परीक्षेत, ··· न संस्कारमाद्रियेत, विशयवत्यो हि वत्तयो भवन्ति'' निरुक्त २, १, १;

अर्थात् शब्दों में प्रकृति-प्रत्यय-विचार करते हुए अर्थ पर मुख्यरूप से दृष्टि रखनी चाहिए, व्याकरण के संस्कारों को या प्रकृतिप्रत्ययों को ही प्रमुख नहीं रखना चाहिए। क्योंकि वृत्तियों (कृत्तद्धितादि=प्रकृति-प्रत्ययविचार) में बहुत ही संशय आ जाते हैं। निरुक्त व्याकरण का पूरक है। जहां पर व्याकरण शब्दों का प्रकृति-प्रत्यय विभाग कर के उन के शुद्ध रूपों के उच्चारण की शक्ति दे कर वेद का मुख है, वहां पर कठिन शब्दों का अक्षर या वर्ण की समानता के आधार पर बोध करा देने के कारण शब्दों को सुन कर समझने की शक्ति देने वाला निरुक्त वेद का श्रोत्र है।

पाणिनि ने अष्टाध्यायी सूत्रपाठ, गणपाठ, धातुपाठ आदि लिखकर ठाठें मारते हुए शब्दसागर को गागर में भर कर सामान्य जनों से भी वहनयोग्य बना दिया। यह आचार्य की अर्थचयन कीं कुशलता थी। कि आज तक उस पर वार्तिक, भाष्य, वृत्ति या टीका रूप में ही ग्रन्थ लिखे गये। उस कोटि का नवीन सूत्रकार कोई नहीं हो पाया और न ही हो पाने की संभावना है। विशेष ध्यान देने योग्य बात यह भी है, कि पाणिनि रचित सूत्रों के कई पदों पर सुझाव दिये गए।

परन्तु सूत्रों में किसी ने भी कोई पद नहीं बदला। पाणिनि ने जिन लकारों अथवा विभक्तियों आदि की कल्पना की है, वे आज भी अटल हैं। यदि हम उस के सिद्धान्त को मान कर चलते हैं तो हमें पूर्णतः उसी पर अनुगमन करना चाहिए। परन्तु यदि हम पाणिनि की कल्पना को सिद्धान्त नहीं मानते और उस में किसी प्रकार की गड़बड़ देखते हैं ? तो हमें—नवीन पाणिनि या और कुछ बनने के लिए—ऐसी योग्यता संपादन करनी चाहिए, जिस से एक नवीन तथा उत्कृष्ट पद्धति का आविष्कार हो जावे और उस के आलोक से आलोकित हो कर संस्कृत वाङ्मय सर्वजनसंवेद्य बन सके। परन्तु न तो हम वाङ्मय में कोई ऐसा तत्त्व प्रदान करें और न हो नवीन रूपरेखा हम से बन पावे ? शब्दों को भले ही हम गिनते रहें और उनकी लम्बी सूची बनाते रहें। जहां पर हमारा कुछ लिखने का अवसर आवे वहां पर हम विस्तार से डर जावें और संक्षेपों और संकेतों का आश्रय ले लेवें ? तो हमारी ऐसी चेष्टा सस्ती प्रतिष्ठा को पाने का उपाय या घोड़े की आंख मिचौनी ही समझी जा सकती है। विद्वान् कहते हैं, कि हम उनसे शेर से घोड़े की भांति ही डर गए और हम ने आंखें मूंद लीं। ताकि शेर को हम देखें नहीं, परन्तु शेर चाहे झपेटा मार लेवे। यदि हमारी बात सार्थक है और वह विद्वद्ग्राह्य है, तो हमें उसके लिए किसी प्रकार के संक्षेप या संकेत का आश्रय लेने की कोई भी आवश्यकता नहीं है। हमें ऐसी भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए—जो कि सर्वजनसंवेद्य हो, तथा विद्वज्जनों से सम्मानित हो। अपनी भाषा स्पष्ट नहीं है और न ही भाव स्पष्ट हैं। प्रतिपादन भी हम नहीं करते और उपपत्ति भी कुछ नहीं देते। नवीन धातुपाठ आदि भी हमारा नहीं और न ही नवीन

विभक्तियां और लकार हैं। परन्तु हम पाणिनि वाली पुरानी प्रतिष्ठित पद्धति में अर्धजरतीन्याय वाली अपनी असंगत कल्पना को अवश्य जोड़ देते हैं और निर्देश दे देते हैं कि लुङ् के स्थान पर लङ् तथा तनादि के स्थान पर भ्वादि पढ़ा कर तुलनात्मक ढंग से ग्रहण कराने का अध्यापक महोदय कष्ट करेंगे। (देखें वेदसार प्रस्तावना पृष्ठ १०) इस में क्या तुलना है? लुङ् सामान्यभूत और लङ् अनद्यतन भूत, लुङ् आर्धधातुक और लङ् सार्वधातुक आदि। भ्वादि में शप् विकरण और तनादि में उ विकरण आदि। फिर आर्धधातुक में इस का प्रसंग ही नहीं। ऐसी असंगत बातों को प्राचीन व्याकरण प्रक्रिया में घुसेड़ देने से क्या हमारी दशा दो किश्तियों के सवार के भांति नहीं हो जावेगी? अभी मैं ने भी यह संकल्प कर लिया है—कि चाहे कितनी भी विकट परिस्थितियां आती जावें—अपने सुरक्षित और सुस्थिर वाङ्मय की रक्षा को अपना कर्तव्य समझ कर निभाऊंगा। जैसे विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान होश्यारपुर में काम करते हुए वहां पर ERRATA लगाने के लिए पर्चियां बना कर दिया करता था। वैसे ही अब वहां के सभी प्रकाशनों को अपनी लेखनी के गोचर बनाऊंगा। ताकि आने वाली पीढ़ी इस महान् अनर्थकारी अर्थ-विप्लव से बच सके। यह अर्थ-विप्लव दो प्रकार से है, एक अर्थ=पैसे के ज़ोर पर विप्लव=अंधेरगर्दी और दूसरे (शब्दों के) अर्थ का विप्लव। आशा है, इस से वैदिक वाङ्मय की कुछ सेवा हो पाएगी और वेदप्रेमी जनता से भी हमें कुछ न कुछ सहयोग तथा आश्वासन मिलेगा ही।

यह बात अलग है कि पाणिनि से पूर्व इतने प्रातिशाख्य विद्यमान थे, कि पाणिनि ने वैदिक शब्दों पर बहुत ज़ोर देने की

अवश्यकता न समझी हो, और "व्यत्ययो बहुलम्" तथा "बहुलं छन्दसि" आदि सूत्रों से भी काम चलाया हो। परन्तु "छन्दसि लुङ्लङ्लिट:" सूत्र निर्माण करने वाले आचार्य पाणिनि यदि "कृ-मृ-दृ-रुहिभ्यश्छन्दसि" सूत्र की रचना केवल चार धातुओं के लिए करते हैं, तो इस में कुछ रहस्य अवश्य है, जिस से विवश हो कर पाणिनि को ऐसा सूत्र बनाना पड़ा और सार्वधातुक लङ् लकार से आर्धधातुक लुङ् लकार में रूप-सिद्धि के लिए च्लि को अङ् करना पड़ा। यह प्रसिद्ध है और वैयाकरण इस का पूरा पालन भी करते हैं—

"अर्धमात्रालाघवेन पुत्रोत्सवं मान्यन्ते वैयाकरणा:"

सूत्र आदि में आधी मात्रा भी बच पावे तो व्याकरण के विद्वान् पुत्रप्राप्ति जैसी खुशी मनाते हैं। ऐसी स्थिति में केवल इन चार धातुओं के लिए ही यह सूत्र क्यों बनाया जावे ? इस सूत्र के निर्माण का अभिप्राय हाथ में आमले की तरह (करतलामलकवत्) पूर्णत:स्पष्ट है, कि पाणिनि को अवश्य ऐसे प्रयोग मिले होंगे, जिन में सामान्य तथा अनद्यतन भूत का अन्तर स्पष्ट रहा है। जैसा कि इसी वेदसार के १६३ मन्त्र में हैं (वेदसार में यहीं पर 'अकरम्' है, दूसरे स्थान पर नहीं। इस पर विशेष विमर्श परिशिष्टों की अलोचना में किया जावेगा, शेष आक्षेपों को पाठक वहां पर देख लेवें)। ऐसी स्थिति में पढने वाले छात्रों तथा पढाने वाले अध्यापकों को यह निर्देश दे देना (देखें प्रस्तावना पृष्ठ १०) कि वह लुङ् के स्थान में लङ् पढावें, कहां की तुक है ? अब पाठक थोड़ा सा विचार करें। कि जब छात्र परीक्षा में ऐसा लिखेगा, उस पर यदि परीक्षक ने अशुद्धि लगा दी और छात्र को अङ्क प्राप्त नहीं हुए, तो यह दोष किस का होगा ? परीक्षक का ? छात्र का ?

अध्यापक का ? पुस्तक बनाने वाले का ? पुस्तक को पाठविधि में रखने वाले का ? या अलोचना कर के गलती बता देने वाले का ? यही विचार हैं, जिन्हें सोचना तथा समझना है और आगे के लिए संस्कृत के बोर्ड की ऐसी व्यवस्था करनी है कि, इस में ऐसे सज्जन अवश्य आ सकें जो कि विद्वान् हों। अन्यथा संस्कृत का उद्धार चाहते हुए भी सरकार कभी सफल नहीं होगी और भविष्यत् में संस्कृत के ग्रन्थों की पंक्ति का अर्थ समझने वाला भी देश में नहीं मिलेगा। संस्कृत की ऐसी दशा होने पर आगे आने वाली पीढ़ी संस्कृत से प्राप्त होने वाले ज्ञान के लिए तरसेगी।

प्रथमपीठ पर टिप्पण :–

वेदों के पाठ, अर्थ तथा व्याकरण आदि के सम्बन्ध में स्वामी दयानन्द सरस्वती का भाष्य—ज्ञान-विज्ञान परक होते हुए भी उनकी–मान्यताएं वही रखता हैं। जो कि प्राचीन आचार्यों की रहीं हैं। तभी तो वह स्थान २ पर निरुक्त, व्याकरण आदि से प्रमाण उद्धृत करते हैं। उन्हों ने उदात्तादि स्वरों के साथ ही षड्ज ऋषभादि सात स्वरों का भी संकेत संहिता ग्रन्थों में किया ही है। उन के ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकादि ग्रन्थों से पाठक परिचित ही हैं। शताब्दी संस्करण में छपी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के पृष्ठ २९२-२९३ पर वेदों का नित्य होना तथा स्वतः प्रमाण होना स्पष्ट है, पृष्ठ ३०१ पर लिखा है—

"न वेदस्य प्रामाण्यसिद्ध्यर्थमन्यत्प्रमाणं स्वीक्रियते। किं त्वेतत्साक्षिवद्विज्ञेयम्। वेदानां स्वतः प्रमाणत्वात् सूर्यवत्।"

अर्थात् वेदों की प्रमाणता सिद्ध करने के लिए अन्य प्रमाण स्वीकृत नहीं किया जाता। इन्हें तो साक्षी की भांति समझें। वेद

सूर्य की भांति स्वत:प्रमाण जो हैं। पृष्ठ ३१० पर वेदों की परा और अपरा विद्याए बताई गई हैं और पृष्ठ ३०९ पर विज्ञान, कर्म उपासना और ज्ञानकाण्ड वेदों के चार विषय निर्दिष्ट किए हैं। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेदभाष्य या सत्यार्थ प्रकाश आदि में उन्हों ने वे ही सिद्धान्त तथा तर्क अपनाए हैं, जो कि व्याकरण, निरुक्त, आदि से सम्मत हैं। उन्हों ने विज्ञानपरक भाष्य करते हुए भी ऐसी मनमानी नहीं की है, जैसी कि वेदसार में की गई है। स्वामी जी ने प्रत्येक स्थल पर ऋषि छन्द तथा देवता आदि का निर्देश भी किया और स्वरों के चिह्न भी नहीं बदले। उस समय भी चारों वेदों में स्वरनिर्देशपद्धति वही थी जो आज है। शतपथादि की स्वर-निर्देश विधि भी वैसी ही थी, जैसी आज है।

इसी प्रकार पश्चिमी विद्वानों में भी किसी ने ऐसी मनमानी नहीं की। उन्हों ने अपना विशेष विचार टिप्पणों के रूप में अवश्य दिया, परन्तु पाठ को कहीं बदला नहीं। कहीं २ उदात्त के ऊपर निशान अवश्य दिया। परन्तु संहिताओं को यथावत् ही छापा और पदपाठ तथा ऋषि छन्द देवता आदि को नहीं छोड़ा और न ही छेड़ा, बल्कि यथावत् ही रखा।

वेदसार में पाठ की मनमानी तोड़-मरोड़, पदपाठ और ऋषि छन्द देवतादि को छोड़ देना, स्वर का नवीन असंगत निर्देश, अर्थ का स्वच्छन्द ढर्रा, स्वामी दयानन्द जी के भी विरुद्ध है और पाश्चात्यों की रीति का भी अनुसरण नहीं करता। इस प्रकार की उच्छृङ्खल वृत्ति की पुस्तक को जिस में ज्ञान का लव, भी सन्दिग्ध हो, पाठ्य पुस्तक बना देना विद्यारसिकों के लिए अरुन्तुद (Acrid=Corrosive) ही है।

प्रथम पीठ समाप्त

वेदसार-परीक्षण

द्वितीयपीठ

द्वितीयपीठ के विषय :—

८-वेदसार में सन्धियों की विषमता, ६-स्वरनिर्देश की स्वकल्पित रीति. १०-वेदसार में वेदपाठ की शोध के नाम पर दुर्गति, ११-वेदसार और तुलनात्मक अध्ययन, १२-वेदसार और पदपाठ, १३-वेदसार की अर्थपद्धति, १४-वेदसार के परिशिष्ट आदि।

[निवेदन :—

प्रथमपीठ में प्रतिपादित मौलिक सिद्धान्तरूप सामान्य विचारों के साथ अब हम द्वितीयपीठ में वेदसार का अन्तः परीक्षण आरम्भ करते हैं। हो सकता है मेरे विचारों में भी कुछ भ्रम हो ? कालिदास ने कहा है --

"बलवदपि शिक्षितानामात्मन्यप्रत्ययं चेतः"

चाहे कितनी भी शिक्षा प्राप्त की हो, अपनी बातों पर ही विश्वास नहीं किया जा सकता। अतः विद्वानों से सादर निवेदन है कि वह अपने उदार विचारों को अथवा अपने मतभेद को मुझे निःशङ्कभाव से लिखें। ताकि मेरी इस ज्ञानगोष्ठी में सहायता हो सके। साथ ही देश में संस्कृत और वेद के प्रति सही कर्तव्य भावना जागृत हो सके। वेदसार के हटने से मेरा कोई व्यक्तिगत लाभ नहीं है और रहने से मेरी कोई व्यक्तिगत हानि नहीं है। वेदविद्या की हानि अवश्य है। अतएव मैं इसे तुरन्त हटा दिए जाने के पक्ष में हूं। निष्पक्ष विद्वान् भी मेरे इसी पक्ष के समर्थक

हैं। इसी का यदि शुद्ध संगत और प्रामाणिक संस्करण कर दिया जावे, तो हमें कोई आपत्ति नहीं है। परन्तु जब तक ऐसा नहीं किया जाता। तब तक १९५१ तथा १९६२ के वेदसार को परीक्षा में रखना किसी दृष्टि से भी युक्त नहीं है, चाहे इस पर चारों वेदों वाली जिल्द हो, चाहे वेद-महावृक्ष वाली जिल्द हो और चाहे जिल्द में कोई और नवीन विशिष्ट कल्पना भी कर दी जावे ? बीच में तो १ से १३६ तक पृष्ठ वही हैं—जो ठीक नहीं।]

८-वेदसार में सन्धियों की विषमता :—

वेदसार प्रस्तावना (संस्करण १९६२) पृष्ठ आठ पर छपा है—"मूलपाठ को सुगम बनाने के लिए छन्दों के चरणों को अलग-अलग कर के रखा गया है। जहां-जहां सन्धि के कारण पाठ कठिन हो गया है, वहां-वहां संहित वर्णों को अलग-अलग दिखा कर पाठ को सरल और सुबोध बना दिया गया है। साथ में इस बात का भी बराबर ध्यान रखा गया है, कि पाठ का तार न टूटे।"

अब विज्ञ पाठक इस वक्तव्य की यथार्थ परीक्षा के लिए मूलपाठ के आरम्भ—१म मन्त्र अर्थात् पृष्ठ ४ से ले कर अन्तिम मन्त्र २२३ पृष्ठ ११४ पर्यन्त पूरी पुस्तक के मूलपाठ को देख जावें। छन्दों के चरणों को अलग-अलग रखा गया है। परन्तु बहुत से स्थलों में यह भी ठीक नहीं है। जैसे मन्त्र १७६ से १९० तथा २२३ का चरणविभाग कल्पित है वास्तविक नहीं और न ही यह मान्य हो सकता है। पदपाठ को छोड़ देने से और इस प्रकार अस्वाभाविक चरणविभाग को अपनाने से सन्धिनियमों का भी अपलाप हो रहा है और सुगमता भी नहीं बन पाई। हां

कहीं-कहीं सन्धि अवश्य ठीक है, जैसे —मन्त्र ८४, २१०, २११ तथा २१८ आदि में, परन्तु ऐसे स्थल गिने चुने ही हैं। इस के विपरीत कई स्थलों पर अक्षरवृद्धि आदि दोष भी अवश्य आ गये हैं और संधि भी ठीक नहीं। पाठक पहले मन्त्र के आदिम चरण को ही उदाहरण के रूप में ले लेवें। यहां पर 'विश्वतो' पद पर चरण समाप्त हो रहा है, इस पद के बाद अल्प-विराम का भी निवेश कर दिया है। यदि यह अल्पविराम न भी रखा जाता तो सुगमता थी ही। अब इस अल्पविराम के निवेश से न तो 'विश्वत:' के विसर्ग को ओभाव उपपन्न हो सकता है और न ही अगले पद 'अदब्धास:' के 'अ' का पूर्वरूप। इस प्रकार यह अल्पविराम अनर्थक, असंगत तथा अनावश्यक है। दूसरे उदाहरण के रूप में पहले मन्त्र के तीसरे पाद को रखा जा सकता है, इस में 'असन्-न्', निर्देश किया है, यहां पर भी अल्पविराम अनर्थक, असंगत तथा अनावश्यक है। क्यों कि इस से ह्रस्व अच् से परे ह्रस्व अच् को होने वाला आगम 'नुट्' संहिता न रहने से उपपन्न नहीं होता। जिस अच् को पा० ८, ३, ३२, से नुट् का आगम होगा, वह तो अल्पविराम के बाद है। मन्त्र के दूसरे पाद में अर्धविराम तथा चौथे पाद में प्राय: पूर्णविराम होता है। अत: ऐसे स्थलों के अतिरिक्त मन्त्र १ (पृष्ठ ४) से ले कर मन्त्र २२३ (पृष्ठ ११४) तक सभी मन्त्रों के पहले तथा तीसरे पाद में प्राय: इस प्रकार की सन्धि की विषमता वर्तमान है, ऐसे स्थल सैंकड़ों हैं। मन्त्र ८४ (पृष्ठ ४२) आदि में सन्धि का प्रकार ठीक कहा जा चुका है। परन्तु ऐसे स्थल गिने चुने ही हैं। मन्त्र ७ (पृष्ठ ६) के तीसरे पाद में सन्धिच्छेद को ठीक कहा जा सकता है

परन्तु इस से संहिता पाठ में अक्षरवृद्धि हो गई है, ऐसे कई स्थल हैं। इन तीन चार प्रकार के नमूनों के बाद अब पाठक देखेंगे कि मन्त्र १४ (पृष्ठ १०) के दूसरे और तीसरे चरणों में बंटे हुए 'रेक्णस्वता' शब्द की क्या दुर्गति बन गई है। 'रेक्णस्—,' के बाद डश और अल्पविराम दोनों रखे हुए हैं। अगले चरण में ०'वती' को 'अभि' के साथ सन्धि कर के रखा गया है। इस से चरण-व्यवस्था तो ठीक रही, परन्तु एक पद में दो पदों का भ्रम बन गया। छात्र इसे देख कर अवश्य संदेह में पड़ेंगे कि क्या यह पद एक है अथवा इस में दो पद हैं? इस के विपरीत ऐसे स्थल छोड़ दिये गए हैं, जहां पर सन्धिनिर्देश से सुगमता हो जाती।

पता नहीं इस नवीन अपूर्ण प्रयोग से क्या लाभ हुआ है? हमारे विचार में तो यह असन्तुलित प्रयोग लाभ की अपेक्षा हानि कारक ही अधिक बन रहा है। इस से सन्धि नियमों का भङ्ग हो रहा है। छन्दों को पादव्यवस्था ठीक नहीं रही और मूल संहिता पाठ के पढ़ने का क्रम भी बिगड़ गया। इन कारणों से आवश्यक यहीं है—कि मूल संहितापाठ को प्राचीन परम्परा के अनुसार ही रखा जावे और पदपाठ भी साथ में रहे। ऐसा करने से छात्र सन्धियों से, अवग्रह (समास) आदि से तथा प्रगृह्य आदि से भी परिचित हो सकेंगे। जिन का परिचय वेद पढ़ने के लिए परमावश्यक है।

९-स्वरनिर्देश की स्वकल्पित रीतिः—

वेदसार प्रस्तावना पृष्ठ आठ और नौ में प्रचलित वैदिक-स्वर निर्देश पद्धति को बदलने का संकेत दिया गया है। पुनश्च वेदसार के परिशिष्ट (१) में पृष्ठ १४३ से १४५ तक भी इसी को दोहराया

गया है। इस नवीन हेतु के लागू करने में मुख्य हेतु के रूप में उदात्त की प्रधानता तथा विविध शाखाओं के विविध प्रकारों की संकीर्णता ही कही गई है। अब प्रश्न यह उठता है-कि छात्र केवल वेदसार ही पढ़ेंगे ? या कभी वेदों को भी पढ़ेंगे ? यदि वेदों को भी पढ़ेंगे और वेद का ज्ञान या वैदिक विषयों में प्रवेश कराने के लिए ही छात्रों को वेदसार पढ़ाया जाना है, तो अवश्य ही छात्रों को वेदो की विभिन्न पद्धतियों का परिज्ञान कराया जाना चाहिए। यदि ऐसा नहीं किया जाता ? तो वेदसार पढ़ाए जाने का कुछ भी फल नहीं है।

इस के विपरीत देखिए सभी संहिता ग्रन्थों में नीचे चिह्न अनुदात्त का ही है। केवल शतपथब्राह्मण में उदात्त का चिह्न नीचे है, जिस का अध्ययन यजुर्वेदी लोग विशेष प्रकार से करते हैं। वेदसार में न तो शतपथ ब्राह्मण से कोई संग्रह किया गया है और न ही उस के स्वर निर्देश के प्रकार का यहां पर कोई प्रश्न ही पैदा होता है। इस कारण प्रचलित और प्रतिष्ठित स्वर-निर्देश-पद्धति को भी बदल देना छात्र को विज्ञ बनाने के वजाय अज्ञ ही बनाता है। इस स्वकल्पित रीति से छात्रों को पता नहीं चल पायगा—कि कब उदात्त के बाद अनुदात्त को स्वरित हो गया ? कब उदात्त परे होने पर अनुदात्त को स्वरित नहीं हुआ ? कब स्वरित के बाद अनुदात्त को एक-श्रुति या प्रचय हुआ ? कब अनुदात्त इस एक-श्रुति-या प्रचय में नहीं बदला ? तथाच वैदिक-परम्परा (शिक्षादि) में स्वरित के भी आठ भेद हैं—१ जात्य, २ अभिनिहित, ३ क्षैप्र, ४ प्रश्लिष्ट, ५ तैरो—व्यञ्जन, ६ तैरो-विराम, ७ पादवृत्त ८ ताथाभाव्य।

Cf. Petrson's Second Selection of Hymns

from the Rigved Appendix, III. Pages LXVI to LXXV. etc.

इन सब के लिए विशिष्ट चिह्न प्रयुक्त होते हैं और विशिष्ट लक्षण भी शिक्षा प्रातिशाख्यादि में कहे गए हैं। इन का कुछ न कुछ परिचय प्रचीन पद्धति से छात्रों को प्राप्त हो ही जाता है, अतः एव वही पद्धति सर्वमान्य है। वेदसार की इस स्वकल्पित रीति में छात्रों को इन का परिचय नहीं हो पाएगा। इसी प्रकार छात्रों ने वेदसार में सामवेद का मन्त्र २९ (पृष्ठ १६ पर) पढ़ा, परन्तु उन्हें सामवेद के उदात्तादिमूलक १ षड्ज, २ ऋषभ, ३ गान्धार, ४ मध्यम, ५ पञ्चम, ६ धैवत और ७ निषाद संज्ञक सात स्वरों का परिचय भी नहीं मिला। जिन के क्रुष्टादि वैदिक विशेष नाम भी हैं। षड्जादि सात नामों से ही 'सा रे ग म प ध नि' स्वरों के संकेताक्षर लिए गए हैं। यह बात छात्रों को अवश्य अवगत कराई जानी चाहिए।

पुनश्च वेदसार में यह स्वर बदलने का काम भी सावधानी से नहीं किया गया है। मन्त्र ३५ (पृष्ठ २०) में स्वर गलत होने से अर्थ ही बदल जाता है। मूल ऋग्वेद ४, ५७, २ में 'नः' पाठ है, जो कि अनुदात्त है, वेदसार में यहां पर विसर्ग हैं नहीं और नीचे उदात्त का चिह्न लगा दिया गया है। इस से मन्त्र का अर्थ ही निषेधार्थक बन जाता है। जो कि अभिप्रेत नहीं है, वेदसार में भी अनुवाद निषेधपरक नहीं है। इसी प्रकार की अन्य अशुद्धियां भी भरी पड़ी हैं। अधिक स्पष्ट रूप में पाठक पृष्ठ ६४ मन्त्र १२७ में देखें, इस में पांच पदों में से पांच उदात्तों के चिह्न लापता है। पृष्ठ २५ मन्त्र ४७ के चौथे पाद का 'स' अनुदात्त बन गया है। इस प्रकार मन्त्र ४७ तथा १२७ के छः पद निघात हो कर अर्थ की संगति नहीं रखते। जिस से अर्थ का अनर्थ हो सकता है।

पिछले दिनों मेरे पास एक वदिक विद्वान आए। उन्होंने वेदसार उठाया और लगे हाथ से स्वर लगाने। जब सभी प्रयत्न विफल गए और सभी कुछ गड़बड़ प्रतीत होने लगा। तो क्रोध से कहने लगे कि 'यह वेदसार नहीं, वेदसाड़ है।' इसे पढ़ कर छात्रों में रहा सहा वेद का आदर भी जाता रहेगा। यह आप अच्छा ही कर रहे हो जो इस पुस्तक की मनगढ़न्त बातों पर वैदिक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट कर रहे हो।

उक्त विवेचन से स्पष्ट ही है कि वैदिकपदानुक्रमकोष में पदों का अनुक्रम मात्र देने के कारण भले ही उदात्त या विशिष्ट स्वरित का चिह्न दिया गया हो। परन्तु वैदिक संहितापाठ को छापते हुए पाणिनि, यास्क तथा प्रातिशाख्यों में किए गए संहिता के लक्षण "परः संनिकर्षः संहिता" को भी अलक्षित कर देना या तदनुसार स्वरनिर्देशादि न करना एक भारी भूल ही समझी जा सकती है। सहस्रों वर्षों से चल रहा वैदिक संप्रदाय निर्मूल तो नहीं है। उन महर्षियों, आचार्यों आदि में भी तो ऐसे वाद प्रतिवाद कई बार हुए ही होंगे, तभी उन्हों ने इस परिपाटी को अपनाया होगा। जो कि पूरा जीवन वेदपाठ के लिए ही दे देते थे। हम विना विचार-विमर्श के ही उस सर्वसम्मत अभियुक्ताभिमत स्वरपद्धति का परित्याग कर देवें और उन्हीं के ग्रन्थों में ऐसा बरतें ? यह हमारा कैसा कृतज्ञता-रहित व्यवहार होगा ? जैसा जिस पद्धति में है, उसे अपने असली रूप में ही ग्रहण करना युक्त है। इसी से उस का महत्त्व है और इसी पर उस की ज्ञान-परम्परा आश्रित है।

१०-वेदसार में वेदपाठ की तोड़-मरोड़—

सन्धियों तथा स्वरनिर्देश की हेरा-फेरी जानने के अनन्तर अब पाठक वेदसार में रखे गए २२३ मन्त्रों के मूलपाठ की तोड़-

मरोड़ आदि से भी अवगत हो जावें। इसे पढ़ने से ही पदपाठ न रखने की स्थिति भी अनुमित हो जावेगी। पदपाठ के विषय में कुछ विशेष आगे लिख देंगे।

संसार भर में ऐसा कोई भी उदाहरण नहीं होगा, जहां कि दूसरे के वाक्यों या शब्दों का विन्यास बदल दिया जावे, या उन में ही किसी प्रकार का परिवर्तन कर दिया जावे। हां दूसरों की कविता को अपनी कविता कर के प्रख्यापित करने वाले कवियों को संस्कृत साहित्य में 'चौर-कवि' अवश्य कहा गया है।

प्रस्तुत वेदसार में वेदों के सूक्तों तथा अध्यायों आदि के क्रम की तो चिन्ता ही नहीं की गई है, प्रत्युत मन्त्रों का भी अङ्ग भङ्ग कर दिया गया है। पूरे वेदसार के पृष्ठ उलटने में तो शोधित पद केवल मन्त्र ७३ (पृष्ठ ३६) तथा ११६ (पृष्ठ ५८) इन दो मन्त्रों में ही मिला। परन्तु मूल सहिताओं में पाठ के मिलाने पर लगभग आधा सैकड़ा (चतुर्थांश) मन्त्रों का पाठ बदल दिया गया है या अक्षरवृद्धि आदि कर दी गई हैं।

साहित्यज्ञ विद्वान् जब कभी कही पर दूसरे की पंक्तियों को उद्धृत करते हैं, तो अविकल रूप में ही और इसे ही साहित्य की निष्ठा कहते हैं। किसी भी लेखक से ऐसी आशा नहीं की जाती, कि वह दूसरे के वाक्यों को अविकल उद्धृत नहीं करेगा। परन्तु वेदसार में तो बात ही निराली है। देखें वेदसार प्रस्तावना पृष्ठ आठ—"जहां कहीं मूल में पाठ टूटा हुआ प्रतीत हुआ है, जैसे मन्त्र ११६ में, वहां पर पाठपूर्ति का कुछ सुझाव मात्र भी कोष्ठक में जोड़ दिया गया है।" इन पंक्तियों के अनुसार भी नहीं बरता गया है। जैसे ७३ मन्त्र के नीचे शोधित पद है, परन्तु पाठ में कोष्ठक किसी पद पर

भी नहीं है। मन्त्र ११६ में दो कोष्ठक प्रयुक्त हैं, परन्तु पहले कोष्ठक में मन्त्र का 'मे' पद भी गिरिफ्तार किया गया है और दूसरे कोष्ठक में मूल का 'अनिभृष्टः' पाठ छोड़ दिया गया तो उसके स्थान पर ''अतिपुष्टः'' अपने पास से जोड़ दिया। इसे 'सुझाव मात्र' कैसे कहा जा सकता है? अब विज्ञ पाठक मन्त्र ११६ का संहितापाठ तथा पदपाठ वेदसार तथा अथर्ववेद की पुस्तकों से मिला कर पढ़ लेवें। (दोनों ही विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोधसंस्थान के प्रकाशन हैं और दोनों के ही श्री विश्वबन्धु जी संपादक तथा अधिसंपादक हैं। वेदसार १९५१ तथा १९६२ में प्रकाशित हुआ है और अथर्ववेद (सायणभाष्य) १९६२ में ही वेदसार के शैक्षणिक संस्करण से कुछ ही मास पूर्व प्रकाशित हुआ है।) इसके साथ ही वैदिकपदानुक्रमकोष के पदानुक्रम से भी इसे मिला लेवें। वेदसार का पाठ न तो वहीं के प्रकाशित अथर्ववेद से मेल खाता है और न ही वैदिकपदानुक्रमकोष से। फिर अथर्ववेद तथा वैदिकपदानुक्रमकोष में Textual Re-examination न किया गया हो, ऐसी बात भी नहीं है। अथर्ववेद Part I, Preface Pages VII to IX मुख्यतः ऐसे हैं, जिन में शोध के नाम पर कुछ न कुछ पाठ-परिवर्तन बताया ही गया है। यह बात अलग है, कि उस के संपादन में सहयोगी सर्वश्री भीमदेव, विद्यानिधि तथा मुनीश्वरदेव ने संहिता में पाठ-परिवर्तन का परामर्श नहीं दिया हो और न ही स्वरपद्धति बदलने दी हो। अथर्ववेद में जो पाठ परिवर्तन सुझाए गए हैं उन की परीक्षा अवसर मिलने पर पृथक् रूप में कर दी जायगी, इसी प्रकार वैदिकपदानुक्रमकोष में भी कई जगह पाठ में शोध के नाम पर परिवर्तन आदि सुझाया गया है। उसकी स्थिति का यथार्थ अवलोकन भी यथासमय कर दिया जायगा। अभी वेदसार के ११६

मन्त्र का पाठ तथा अथर्ववेद का संहितापाठ और पदपाठ पढ़ लेवें, इस से पता चल जायगा कि वेदसार प्रस्तावना पृष्ठ आठ की पंक्तियां कहां तक यथार्थ हैं ? यदि यह यथार्थ नहीं हैं और पाठकों को भ्रम पैदा करने वाली हैं,तो ऐसा करने की क्या आवश्यकता थी ? इस का उत्तर अवश्य अपेक्षित है।

वेदसार में :—पृष्ठ ५८ मन्त्र ११६, संस्करण १९५१ तथा १९६२, Published by V. V. R. I, Hoshiarpur.

ऊर्वोरोजो जङ्घयोर्,
जवः पादयोः प्रतिष्ठा ।
अरिष्टानि (मेऽङ्गानि),
सर्वाऽऽत्मा (ऽतिपुष्टः) ॥

अथर्ववेद १९, ६०, २; Part IV में :—मूल संहिता पाठ (पृष्ठ १९९७) तथा पदपाठ (पृष्ठ १९९८), संस्करण १९६२ Published by V. V. R.I., Hoshiarpur.

संहितापाठ—ऊर्वोरोजो जङ्घयोजवः पादयोः ।
प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वात्मानिभृष्टः ॥२॥

पदपाठ--

ऊर्वोः । ओजः । जङ्घयोः । जवः । पादयोः ।
प्रतिऽस्था । अरिष्टानि । मे । सर्वा । आत्मा । अनिऽभृष्टः ॥२॥

अथर्ववेद (शौनकशाखा) के अन्य सभी संस्करणों में यही पाठ है। इसे पाठक अजमेर,सातवलेकर, राजाराम, शङ्करपाण्डुरङ्ग तथा मुरादाबाद के संस्करणों से मिला कर देख लेवें, इस मन्त्र में किये गए परिवर्तन किसी संस्करण में भी नहीं हैं। इस पाठ से मिलता-जुलता पाठ तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीयारण्यक तथा पारस्कर गृह्यसूत्र में है। परन्तु वहां पर अग्निचित्यादि भिन्न

प्रकरणों में यह अङ्गन्यास है। यहां पर ६०, ६१, ६२ तथा ६३ सूक्तों पर सायण भाष्य नहीं है। सूत्रग्रन्थादि से ही विनियोग-बोधन हो सकता है। अतः इस में हवनपद्धति के अङ्गन्यास पर ध्यान देकर ही पाठ परिवर्तन कर देना किसी प्रकार भी न्याय्य नहीं है। तैत्तिरीय संहिता में तथा तैत्तिरोयारण्यक में 'ऊरुवोरोजः' पर अङ्गनिर्देश समाप्त है। अतः आगे "अरिष्टा विश्वान्यङ्गानि" पाठ है। इसी प्रकार पारस्कर गृह्यसूत्र प्रथमकाण्ड की तीसरी कण्डिका में विवाह प्रकरण में मधुपर्कप्राशन-विधान में "ऊर्वोरोजः" के अनन्तर 'अरिष्टानि मेङ्गानि' पाठ है। यही पाठ हवन मन्त्रों में भी लिया गया है। विचार करने पर प्रतीत होताहै कि,यह तीनों स्थल यजुः=गद्य के हैं,अतःतैत्तिरीय संहिता आदि में ऐसी स्थिति नहीं है,जैसी कि अथर्ववेद के उन्नीसवें कांड के६०तथा ६१ सूक्तों की है। अथर्ववेद में छन्दोबन्ध नियत है, पाद व्यवस्था छन्द के अनुसार करनी पड़ती है और अन्वय भी इसी के आधार पर लगाया जाता है। यदि सम्पादक महोदय इन तीनों बातों पर ध्यान देते, तो इस मन्त्र में न इन्हें त्रुटि ही प्रतीत होती और न ही कोई सुझाव देते। अगले सूक्त के मन्त्र "तनूस्तन्वा०" पर भी सम्पादक महोदय की दृष्टि नहीं गई, यह भी निश्चित है।

मन्त्र ११६ में तीन परिवर्तन मुख्यतः किये गए हैं। पहला परिवर्तन "पादयोः" के बाद के विराम को "प्रतिष्ठा" के बाद रख कर किया है। दूसरे परिवर्तन में 'अङ्गानि' अपने पास से जोड़ा और उसे कोष्ठक में रखते हुए मन्त्र के 'मे' पद को भी कोष्ठक में बन्द कर दिया। तीसरे परिवर्तन में आज तक के प्राच्य-पाश्चात्य विद्वत्सम्मत "अनिभृष्टः" पाठ के स्थान पर विना विचारे "अतिपुष्टः" कर दिया, जिस गलती को छिपाने

के लिए सामने हिन्दी अनुवाद में "आत्मा" का अर्थ "शरीर" करना पड़ गया और प्रतिष्ठा का स्थान बदलने से उसका अर्थ दृढता कर दिया ।

पाठक छन्दोव्यवस्था तथा पादव्यवस्था के विषय में ऋक्प्रातिशाख्य तथा सर्वानुक्रमणी के अनुसार इस मन्त्र का छन्द पहले देख लेवें, तब अन्वय वाली बात आगे कहेंगे। इस मन्त्र में पुर उष्णिक् छन्द है। इस का लक्षण ऋक्प्रातिशाख्य पटल १६ श्लोक. २९, ३० में इस प्रकार है।

"अष्टाविंशत्यक्षरोष्णिक् सा पादैर्वर्तते त्रिभिः ।
पूर्वाविष्टाक्षरौ पादौ तृतीयो द्वादशाक्षरः ।।
पुर उष्णिक् तु सा तस्मिन् प्रथमे मध्यमे ककुप् ।।"

इस पर उव्वट भाष्य है—

'यस्या अष्टाविंशत्यक्षराणि, त्रिभिश्च पादैर्वर्तते, पूर्वाविष्टाक्षरौ पादौ, तृतीयो द्वादशाक्षरः । सोष्णिग्भवति ।। तस्मिन् द्वादशाक्षरे प्रथमे सति पुर उष्णिग्भवति । तस्मिन् द्वादशाक्षरे मध्यमे सति ककुब् भवति ।।"

अर्थात् उष्णिक् छन्दस् के २८ अक्षर होते हैं, इसमें दो पाद आठ आठ अक्षरों के होते हैं तथा तीसरा पाद १२ अक्षरों का होता है। यदि १२ अक्षरों वाला पाद पहला हो तो इसे पुर-उष्णिक् कहेंगे और यदि बीच का पाद १२ अक्षरों का हो, तो इसे ककुबुष्णिक् कहते हैं।

Peteron's Second Selection of Hymns From the Rigveda, Appendix IV, page XC पर लिखा है :—

पुर उष्णिह 12. 8. 8.

इसी प्रकार The Hymns of the Rigveda translated by Ralph T. H. Griffith, Vol. 1., page 654, App. II

में लिखा है:—Pura- ushnih: a metre of three Pada contianing 12+8+8 Syllables. ऐसा ही छन्दोनुक्रमणी में भी निर्देश है।

इन सब के अनुसार इस मन्त्र में पुर उष्णिक् छन्द हुआ, जो कि सभी संहिताओं के संस्करणों में ठीक और पूरा उतरता है। परन्तु वेदसार के पाठ के अनुसार 'ऊर्वोरोजो' से 'प्रतिष्ठा' तक गिनने पर १५ अक्षर बनते हैं और अगले भाग के 'अङ्गानि' जोड़ कर 'अतिपुष्टः'' तक गिनने पर पूरे मन्त्र में तीस अक्षर बनते हैं। पुर-उष्णिक् छन्द के लक्षण में ऐसा नहीं बताया गया है।

मालूम पड़ता है, संपादक महोदय को 'व्यूहेनाऽक्षरपूरणम्' वाला वैदिक-छन्दः-सिद्धान्त ध्यान में नहीं रहा होगा। अन्यथा ऐसी मोटी भूल कभी भी संभव नहीं थी। देखें ऋक्प्रातिशाख्य पटल १७ श्लोक २२-२३

''व्यूहैः संपत् समीक्ष्योने क्षैप्रवर्णैकभाविनाम्।
व्यूहेदेकाक्षरीभावान्पादेषूनेषु संपदे।
क्षैप्रवर्णांश्च संयोगान् व्यवेयात्सदृशैः स्वरैः॥''

सर्वानुक्रमणीमें भी ३,६, पर लिखा है:—

''क्षैप्रसंयोगैकाक्षरीभावान् व्यूहेत्''

दोनों का आशय है कि जहां कहीं संधि आदि से एकाक्षरीभावादि हो जावे, वहां पर व्यूह करके अक्षर गणना करनी चाहिए और सदृश स्वरों से छन्दस् की संपत्ति करनी चाहिए।

इसी प्रकार पादव्यवस्था के लिए ऋक्प्रातिशाख्य पटल १७ श्लो. २४ से २६ में बताया गया है कि—

"पदाभेदेन पादानां विभागोऽभिसमीक्ष्य तु ।
छन्दसः संपद तां तां यां यां मन्येत पादतः ॥
प्रायोऽर्थो वृत्तमित्येते पादज्ञानस्य हेतवः ॥
विशेषसन्निपाते तु पूर्वं पूर्वं परं परम् ॥"

आशय यह है—पादों का विभाग पदों का भेद न करते हुए विचार से करना चाहिए। पाद के आधार पर ही छन्दस् की वह वह संपत्ति करनी चाहिए, जिसे वहां पर समझा जावे। पाद के ज्ञान में १ प्रायः २ अर्थ और ३ वृत्त यह तीन हेतु हैं। विशेष पड़ जावे तो पूर्व को पूर्व समझें और पर को पर अर्थात् दुर्बल। इस प्रकार आगे जैसे अर्थ का विवेचन किया जा रहा है,उसके अनुसार भी प्रतिष्ठा का संहिता वाला स्थान ही युक्त है, न कि वेदसार वाला। अक्षरगणना तथा अर्थ विचार दोनों के आधार पर पहले पाद के बारह अक्षर और दूसरे तथा तीसरे पादों के आठ आठ अक्षर हैं। अतः यहां पर छन्दस् की स्थिति ऐसी है, जिसमें न तो किसी प्रकार का पाठ टूटा हुआ है और न ही किसी प्रकार के सुझाव की कोई अपेक्षा है।

अब विज्ञ पाठक अन्वय तथा अर्थ विचार करके मन्त्र की स्थिति देख लेवें, कि इस मन्त्र में अर्थ की दृष्टि से भी कितनी पूर्णता है। क्या यह मन्त्र वेदसार में शोधित है? या शुद्ध पाठ को अशुद्ध कर दिया गया है? सूक्त के पहले मन्त्र १९, ६०, १ में जो यहां पर ११५ है—मुख, नासाओं, आंखों, कानों केशों, दांतों और बाहुओं में वाक् आदि अपेक्षित की कामना की गई है। इस मन्त्र ११६ (अथर्व १९, ६०, २) का अन्वय है—मे ऊर्वोरोजो (अस्तु) जघंयोः पादयोः (च) जवः, सर्वा प्रतिष्ठा (मेऽस्तु), (सर्वा मे) अरिष्टानि (सन्तु), (मे) आत्माऽनिभृष्टः (अस्तु)।

अर्थ है — मेरे ऊरू में ओज हो, मेरी जांघों तथा पैरों में वेग हो, मेरी सब प्रतिष्ठा हो, मेरे सब अरिष्ट (शुभ) हों, मेरी आत्मा दबी हुई न रहे।

सूक्त ६१ के मन्त्र १ में कहा गया है —

"तनूस्तन्वा मे सह, इत्, अतः सर्वमायुरशीय"

अर्थात् मेरा तनूः तननयुक्त हो (मेरे शारीरिक तथा बौद्धिक विस्तार हों) और मैं पूर्ण आयु प्राप्त करूं। इस मन्त्र से ही पाठकों को यह ज्ञात हो जाता है, कि वेदसार में सूक्तों आदि के प्रसंग तोड़ देने से तथा मन्त्रों का भी अंग भंग करने से अनर्थ हो रहा है। यदि यह प्रकरण- भंग न किया गया होता, तो वेद का मूल पाठ अपने अर्थ को स्थिर रखने में कभी भी शिथिल न होता। जिससे संपादक महोदय को आत्मा का अर्थ शरीर तथा प्रतिष्ठा का दृढता अर्थ न करना पड़ता। अनुमान होता है कि संपादक महोदय ने एक बार अपनी इच्छा से मन्त्र छांटे और संग्रह कर लिया, तब अर्थ विचार करते हुए मूल वेद को देखने का कष्ट नहीं किया। उसी समय हवन मन्त्रों में अंग-न्यास का स्मरण हो आया और मन्त्र टूटा हुआ प्रतीत हो गया. फिर क्या था ? जो चाहा पाठ बदल दिया। अपना ४० वर्ष का संगृहीत वैदिकपदानुक्रम-कोष भी देखने का कष्ट नहीं किया। पाठ-परिवर्तन तो स्वतः ही अपराध है, इस प्रकार अविचारित-रमणीय पाठ तो किस कोटि में रहेगा ? यह विज्ञ पाठक ही कह सकते हैं। फिर "आत्माऽनिभृष्टः" के स्थान पर "आत्माऽतिपुष्टः" पाठ कर के "मेरा शरीर अतिपुष्ट हो" यह अर्थ कर देना तो पूरे वैदिक तथा लौकिक साहित्य की महती अवहेलना है। जिसमें

आत्मा तथा शरीर का भेद तो आपामर प्रसिद्ध है, देहात्मवाद का निरास भी सभी जानते ही हैं। कहीं कभी गौणी वृत्ति से भले ही आत्मा शब्द शरीर का वाचक आया हो? परन्तु प्रसिद्धि आत्मा तथा शरीर के भेद की ही है। इसी वेदसार में संगृहीत मन्त्र १७८ (पृष्ठ ८८) में आत्मा, शरीर तथा तनूः शब्द पृथक् प्रयुक्त हो कर तीनों के अर्थभेद को स्पष्ट कर ही रहे हैं। इतने प्रसिद्ध अर्थ के विषय में ऐसी उपेक्षा छात्रों के सम्मुख या विद्वानों में महत्त्व को खो देती है और अनभिज्ञता का ही प्रकाशन करती हैं, जिसे विज्ञ पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। प्रतीत होता है, कि पदपाठ भी इन्हीं मनमानियों को छिपाने के हेतु ही न रखा गया होगा।

अब पाठक ऊपर निर्दिष्ट अन्वय की संगति लगा लेने की कृपा करें। "सर्वा" शब्द "प्रतिष्ठा" तथा "अरिष्टानि" दोनों पदों के साथ संबद्ध होता है। व्याकरण प्रक्रिया में "सर्वा' शब्द स्त्रीलिंग में प्रथमा एक-वचनान्त है तो नपुसंक लिंग में प्रथमा तथा द्वितीया बहुवचनान्त। नपुंसक में ' शेश्छन्दसि बहुलम्" पा ६, १, ७० से 'शि' का लुक् हो जाने पर सर्वा रूप ही रहेगा। अतः 'सर्वा' शब्द 'प्रतिष्ठा' तथा 'अरिष्टानि' दोनों के साथ अन्वय रखता है। इसी कारण मन्त्र में "प्रतिष्ठा अरिष्टानि मे सर्वा" ऐसा पाठ है।

अब विचार करें-कि क्या इसे पादयोः के साथ जोड़ना न्याय्य है? पादयोः के साथ जोड़ देने पर अर्थ होगा, मेरे पैरों में प्रतिष्ठा हो, वेदसार में हिन्दी करते हुए लिखा है "मेरे पांवों में दृढ़ता हो" यह संगत नहीं हो सकता। प्रतिष्ठा शब्द संस्कृत की भांति ही हिन्दी में भी बहुत प्रचलित है और प्रयुक्त होता है और अर्थ भी वही है जो संस्कृत में है। आगे कुछ प्रयोग संस्कृत के ग्रन्थों से इसके अर्थ को स्पष्ट करने के लिए रख दिए जाते हैं। उन से पाठक देख

सकते हैं कि प्रतिष्ठा की दृढ़ताके साथ कहां समता बन सकती है ? यदि हिन्दी में समता बतानी ही हो तो प्रतिष्ठा का अर्थ होगा स्थिति या स्थिरता। दृढता अर्थ तो प्रतिष्ठा की भावना स्पष्ट नहीं कर सकता।

प्रतिष्ठा शब्द की निष्पत्ति प्रति उपसर्गपूर्वक 'ष्ठा' गतिनिवृत्तौ धातु से 'क' प्रत्यय कर के 'टाप्' करने पर हुई है। अब पाठक उदाहरण रूप में इसके कुछ प्रयोग देख लेवें और तब अर्थ की संगति लगा लेवें।

कथासरित्सागर २, ६९, —

"किञ्च व्याकरणं लोके प्रतिष्ठां प्रापयिष्यति"

रघुवंश १६, ३५, —

"वेदप्रतिष्ठान् विततावध्वराणां यूपानपश्यत्, शतशो रघूणाम्"

मार्कण्डेयपुराण ८४, १०; —

"गौरी त्वमेव शशिमौलिकृतप्रतिष्ठा"

हरिवंशपुराण २८, ३७, —

"य इदं च्यावनं स्थानात् प्रतिष्ठाञ्च शतक्रतोः"

ऋग्वेद १०,७३,६; "साकं प्रतिष्ठा हृद्या जघन्थ" यहां सायण भाष्य है—"प्रतिष्ठा = प्रतिष्ठानानि = शरीराणि"।

इसी स्थिरता के अर्थ को लेकर यह प्रतिष्ठा शब्द देवालयादि की प्रतिष्ठा में रूढ हो गया है। जैसे कि आर्या सप्तशती ३८६ में लिखा है, कि—

"पूजा विना प्रतिष्ठां नास्ति न मन्त्रं विना प्रतिष्ठा च" अर्थात् पूजा प्रतिष्ठा के विना नहीं और मन्त्र के विना प्रतिष्ठा नहीं होती। देखिए जब यह प्रतिष्ठा पूर्ण हो जाती है, तभी से

देवालय तथा कूपादि को पूजा तथा उपयोगादि में प्रयुक्त किया जाता है।

अब प्रकृत में देखिए;— पैरों में जब प्रतिष्ठा = स्थिरता आ गई तो पैर तो आगे बढेंगे नहीं अर्थात् जब पैरों में प्रतिष्ठा हो गई, तो जांघों का जव और ऊरू का ओज क्या कर लेगा ? पैर तो स्थिर हो गए। इसी कारण तैत्तिरीय संहिता, तैत्तिरीयारणयक तथा पारस्कर गृह्यसूत्र में ऊरू तक ही कह कर छोड़ दिया गया और पादों या जंघाओं को 'विश्वान्यङ्गानि' या 'अंगानि' पद से ग्रहण कर लिया। इस लिए अथर्व वेद के मन्त्र में कहा गया, कि मेरे ऊरू में ओज हो और मेरी जांघों में तथा मेरे पैरों में जव = वेग हो। ताकि ऊरूओं में ओज से जांघें और पैर वेग से चलें। स्वाभाविक भी देखा जाता है कि पहलवान लोग कुश्ती से पहले अपने ऊरू के ओज को ही प्रदर्शित करते हैं, तभी जांघों या पैरों का वेग काम आता है। प्रतिष्ठा केवल जीतने वाले पहलवान को ही प्राप्त होती है, दोनों को नहीं। फिर जिस रास्ते पर पैर चलते हैं, वहां पर पहला घास पात आदि मिट जाता है और नया घास उग नहीं पाता। पैरों का जव वहां पर रास्ते की लकीर या डंडी बना ही देता है। अतः ऊरू में ओज और जांघों सहित पैरों में जव = वेग ही अपेक्षित है, न कि प्रतिष्ठा। इस प्रकार इसमें पहला शोध नाम का पाठ परिवर्तन पूर्णतः निरस्त हो जाता है।

दूसरे परिवर्तन में प्रश्न है कि मन्त्र के 'मे' पद को कोष्ठक में क्यों रखा गया और अङ्गानि को क्यों जोड़ा गया ? अथर्व १९, ६०, १ में भी 'मे' पद केवल एक बार है और पूरे मन्त्र में अन्वय दे रहा है। इसी प्रकार इस मंत्रमें भी यह पद एक बार है और पूरे मन्त्र में अन्वय दे रहा है। इसे कोष्ठक में बन्द कर देना किसी

प्रकार भी युक्त नहीं और न ही इस मन्त्र में 'अंगानि' की कोई अपेक्षा रह जाती है। जब कि केश से लेकर पाद तक सभी अंगों का इस (६०) सूक्त में ग्रहण हो चुका और अगले सूक्त में तनूः के साथ तनूः को प्राप्ति से सर्व आयु की व्याप्ति या प्राप्ति की जा रही है, तब पुनः अंग शब्द को यहां घुसेड़ना वेद (ज्ञान) पर भार ही तो है। इस मन्त्र का भाष्य सायण आदि ने किया नहीं। हां श्री राजाराम तथा Griffith का अनुवाद इस पर है। उन्होंने भी अर्थ में अंगों को जोड़ने का प्रयास किया है। इसकी आलोचना पृथक् कर दी जावेगी, क्योंकि यह भिन्न विषय है। पाठ बदलने का दुःसाहस या किसी प्रकार का सुझाव तो उन्होंने उपस्थित नहीं किया।

अब पाठक "अरिष्टानि मे सर्वा" के विशाल अर्थ की ओर भी विचार कर लेवें, जो कि अंगानि के जोड़ देने से संकुचित हो जाता है। 'सर्वा अरिष्टानि मे," कह देने से अर्थ होगा कि मेरे लिए सब प्रकार के शुभाशुभ हों। अरिष्ट शब्द शुभ और अशुभ दोनों का ही वाचक है। विश्व कोश में लिखा है—

"अरिष्टं सूतिकागारे तक्रे चिह्ने शुभाशुभे"

इसी प्रकार मेदिनीकोश में लिखा है—

'अरिष्टमशुभे तक्रे सूतिकागार आसवे।
शुभे मरणचिह्ने च०"।

कोशों के अनुसार अरिष्ट शब्द शुभ तथा अशुभ दोनों में ही रूढ हो गया है। इस की व्युत्पत्ति में रिष् धातु है, जिस का अर्थ होता है हिंसा। रिष्ट=हिंसित और अरिष्ट=अहिंसित। वेदसार पृष्ठ १५४ पर अरिष्ट का अर्थ 'हानि रहित' कहा है। अरिष्टताति अथर्व ६, १९, २ में तथा अरिष्टनेमि ऋग्वेद १०,

१७८, १ आदि में अरिष्ट शब्द समस्त भी पाया जाता है। इस से यहां पर मेरे लिए सब प्रकार के अरिष्ट=सुख हों, इस अर्थ को छोड़ कर "मेरे सब अंग ठीक हों" अर्थ करना किसी दृष्टि से भी ठीक नहीं है। पुनश्च मेरे लिए सब अरिष्ट हों—में विशाल दृष्टि-कोण है और सर्वतः अरिष्ट की कामना है, जो कि अंग शब्द को जोड़ देने से संकुचित हो जाती है और अन्य शुभाशुभ में वृत्ति नहीं रख पाती। सभी अरिष्ट से अर्थ होगा—शुभ प्राप्ति और अशुभनिवृत्ति। इस प्रकार यह दूसरा शोधरूपी पाठपरिवर्तन भी व्यर्थ हो जाता है।

तीसरा शोध है "आत्माऽनिभृष्टः" के स्थान पर "आत्मा-ऽतिपुष्टः"। यह भी किसी प्रकार संगत नहीं है। "अतिपुष्टः" पाठ कहीं भी नहीं है, जब कि "अनिभृष्टः" पाठ प्राच्य तथा पाश्चात्य सभी विद्वानों द्वारा स्वीकृत है। कुछ पुरानी प्रतियों में संहिता पाठ "सर्वान् मातिपृष्टाः" "०ष्टाः" "०ष्ठाः" तथा "सर्वा-त्मानिपृष्टाः" है और पदपाठ में "अनिऽभृष्टः" के स्थान पर "अतिऽपृष्ठाः" ऐसा पाठ है, जैसा कि १९६२ में साधु आश्रम से प्रकाशित अथर्ववेद के टिप्पणों में निर्दिष्ट है। परन्तु यह सभी पाठ प्राचीनों ने स्वीकृत नहीं किए थे, जब कि संहितापाठ को (वेद-पाठी लोगों से पाठ सुन कर) ठीक किया गया था। अत एव सभी संस्करण "अनिभृष्टः" पाठ ही देते हैं। यह पुराने पाठ जिन्हें स्वीकार नहीं किया गया, श्री सातवलेकर ने परिशिष्ट के रूप में और शंकरपाण्डुरंग पण्डित ने टिप्पणों में, संगृहीत किए हैं। फिर 'अतिपुष्टः' पाठ तो किसी भी हस्तलिखित या मुद्रित ग्रन्थ में नहीं है, वेदसार में यह कहां से आया? 'अनिभृष्टः' वेदसार में मूल, परिशिष्ट या टिप्पण में कहीं भी नहीं है, वह कहां खो गया?

और इस 'अतिपुष्ट:' को भी कोष्ठक में क्यों बन्द हो जाना पड़ा ? यह तो टूटे हुए पाठ की पूर्ति नहीं थी ? हां पाठ को तोड़ कर उसके स्थान पर अवश्य रखा गया है।

अब इस 'अनिभृष्ट:' पद को वैदिकपदानुक्रम कोष संहिता भाग प्रथम खण्ड पृष्ठ १७३ से पढ़ लेवें। वहां कहीं पर भी तो इसे शुद्ध करने का कोई सकेत नहीं है और न ही अथर्ववेद के संस्करण में ऐसा कहीं भी निर्देश दिया है। जब कि इन में भी कई पदों पर ऐसे ही शोध उपस्थित किए गए हैं। अवसर मिलने पर उन सभी शोधों पर भी विचार किया जावेगा।

वैप, १ पृष्ठ १७३ "अनिभृष्ट, ष्टा- -ष्ट: ऋ १०, ११६, ६; शौ १९,६०,२;—ष्टम् मा १०, ६; का ११,४,२; तै १,८, १२,१; मै २,६,८; ४, ४, २²; काठ १५, ६; -ष्टा: तै १,८, १२,१;

"इस पर g टिप्पण इस प्रकार है—" g) तस॰ नञ्स्वर: उप नि√भ्रस्ज्+क्त:, यद्र॰। अर्थात् इसमें तत्पुरुषसमास है। नञ् के स्वर से 'अ' उदात्त है और उत्तर पद में नि पूर्वक भ्रस्ज् धातु से क्त प्रत्यय है. इसे यथास्थान देखें।

अब 'अनिभृष्ट:' पद में भृष्ट: की व्याकरणप्रक्रिया से सिद्धि और पूरे पद का भाष्यसम्मत अर्थ पाठक देख लेवें, तब सही रूप में पता चल जायगा कि, यह वेदसार में कैसे टूटा हुआ बताया गया है ? ऐसा इलहाम कहां से हो गया ? यह कैसा वेदसार है ? ऐसा क्यों किया गया ? व्याकरणप्रक्रिया में √भ्रस्ज् धातु से 'क्त' प्रत्यय करने पर "भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम्" पा ६,४,४७ से जब रेफ तथा उपधा को विकल्प से रमादेश हो जावेगा, तो 'भ्रष्ट:' रूप बनेगा और जब 'ग्रहिज्या॰भृज्जतीनां ङितिच" पा॰ ६,१,१६ से संप्रसारण

हो जाता है तो 'भृष्टः' रूप बनता है। इसका रूप भिट्टा पश्चिमी भाषाओं (पंजाबी, पहाड़ी तथा डोगरी आदि में अब भी प्रयुक्त होता है। नि उपसर्ग लगा कर नञ्समास करने से 'अनिभृष्टः' रूप सिद्ध होगा, जो कि लौकिक तथा वैदिक व्याकरण की दृष्टि से भी शुद्ध है। इसे अशुद्ध या टूटा हुआ कहना कभी भी संगत नहीं हैं।

ऊपर वैदिक पदानुक्रमकोष के निर्दिष्ट स्थलों के अनुसार अन्यत्र जहां कहीं इस पद का भाष्य उपलब्ध होता है, वहां पर भाष्यकारों या अनुवादकों का लेख इस प्रकार है—

ऋग्वेद १०,११६,६; में इन्द्र से कहा गया है"अनिभृष्टस्तन्वं वावृधस्व" इस पर सायण भाष्य है — "अनिभृष्टः शत्रुभि-रपरिभवनीयस्त्वं तन्वमात्मीयं शरीरं वावृधस्व=वर्धय"। इस पर Griffith का अनुवाद है never defeated. इसी प्रकार माध्यन्दिन संहिता १०,६; तथा काण्वसंहिता ११,४,२ में 'अनिभृष्टमसि 'पाठ है इस पर उव्वट भाष्य है "अनाधृष्टाः स्थ रक्षोभिः", महीधर भाष्य है "भ्रस्ज् पाके,अयं धातुर्धार्ष्टये व्याख्यातः,अनिधृष्टाः,न नितरां धृष्टाः, अपराभूता रक्षोभिः"यजु-वेद में स्वामी दयानन्द लिखते हैं "न नितरां भृष्टम्=भृष्टता रहित आचरण किए" इस पर Griffith का अनुवाद है-never defeated. इसी प्रकार सभी भाष्यकारों का अभिमत अर्थ हुआ अनिभृष्ट=अपराभूत=पराभव को प्राप्त न हुआ=न दबा हुआ।

अब यह भली प्रकार स्पष्ट हो गया,कि वेदसार मन्त्र ११६ में जो भी शोध उपस्थित किया गया है, वह शोध नहीं है। इस मन्त्र में पाठ भी टूटा हुआ नहीं था। यह बात भी गलत कही गई

है कि पाठ टूटा हुआ प्रतीत हुआ । फिर ऐसा पाठ किसी सस्करण में कहीं भी नही है।

इस प्रकार मनमाने ढंग से पाठ बदल देने से यह प्रश्न भी उठ खड़ा होता है कि संपादक की दृष्टि वैदिक महर्षि के भावों का ग्रहण न कर सकी—यदि यही बात थी,तो इस मन्त्र को वेदसार में रखना ही नहीं चाहिए था। जैसे शेष सहस्रों मन्त्र इस संग्रह के योग्य सिद्ध नहीं हुए,वैसे ही यह भी छोड़ा जा सकता था। अब भी तो पंजाब विश्वविद्यालय की परीक्षा में से ७१, ७२, ७३,७९ और ११५ मन्त्रों को निकाल ही दिया गया। ११५ में तो कोई दोष ही नहीं था। यह मन्त्र जिसमें मनमाना फेर बदल किया गया था, फिर भी पाठ्य बना रहा। शायद यह प्रस्तावना में लिखित शोध से मेल खाता था, इसी लिए इसे रख लिया गया?

मन्त्र ११६ की ऊपर स्पष्ट की गई स्थिति से यह भी विदित हो गया, कि वेदसार में मन्त्रों के संकलन का ढंग भी ठीक नहीं है। क्योंकि इस से सूक्तों का परस्पर प्रसंग तो टूटता ही है, अवान्तर प्रसंग भी टूट जाता है और वेद के विषय में ज्ञान अधूरा ही रह जाता है। इस कारण यह संकलन-पद्धति अध्ययनाध्यापन के लिए कदापि उपयुक्त नहीं है।

वेदसार की प्रस्तावना पृष्ठ आठ पर ११६ मन्त्र का निर्देश था तथा पाठकों को भ्रम में डाल देने वाली वाक्य-रचना द्वारा वस्तु-तत्त्व को छिपाया गया था, अतः उसका विवेचन कर दिया गया। ताकि विज्ञ पाठकों को यह भली भांति अवगत हो जावे, कि यह शोध भी संगत नहीं है, पाठ परिवर्तन अन्याय्य है और असंगत होने से किसी प्रकार भी क्षम्य नहीं है।

अब दूसरे उदाहरण के रूप में मन्त्र ३१ (पृष्ठ १८) रखा जाता है। यह मन्त्र अथर्ववेद के प्रसिद्ध भूमिसूक्त से लिया गया है,

जिसे वेद का राष्ट्रियसूक्त माना जाता है और जिस का विशिष्ट महत्त्व मान कर बहुत से विद्वानों ने इस पर स्वतन्त्र ग्रन्थ ही लिख डाले हैं। श्री प्रियव्रत वेदवाचस्पति जी ने 'वेद का राष्ट्रियगीत" पुस्तक केवल इसी एक सूक्त पर लिखी है। अन्य विद्वानों ने भी इस सूक्त को विशेष महत्त्व दिया है। वेद का एक २ अक्षर महत्त्वपूर्ण है, परन्तु यह सूक्त तो रचना में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

पाठक इस मन्त्र को वेदसार पृष्ठ १८ तथा पृष्ठ १५१ (परिशिष्ट) में देख लेवें. यहां दोनों स्थानों पर 'कवे' के स्थान पर 'अकवे'पाठ माना गया है। इस मन्त्र में सभी संस्करणों में संहिता-पाठ तथा पदपाठ भी 'कवे' ही है। पैप्पलाद संहिता १७.६,८ में 'त्वम्' पाठ है। इससे अन्यत्र कहीं भी ऐसा पाठ नहीं है। यह पाठ कहां से आया? कैसे आया? शुद्ध रूप का नञ्समास कहां से हो गया? यह वेदसार में कहीं कुछ निर्दिष्ट नहीं है। वेदसार के पाठक इस पाठ को जो अथर्ववेद की पुस्तक मिले उसके साथ मिला कर स्वयं देख लेवें और परिचित हो जावें, कि यह क्या गड़बड़ घोटाला है?

वेदसार परिशिष्ट (२) पृष्ठ १५१ पर छपा है "⁜अकवे [३१]-अ-कवा-, वि० (विशाल [भूमि]),⁜अ – खर्वा—> (वावि.) यनि., सं १।" अर्थात् यह विशेषण पद अखर्वा शब्द का वाचनिक विकार है, यथानिर्दिष्ट संबोधन एक वचन है। यह गड़बड़ किस आधार पर की गई है। इस का कहीं भी निर्देश नहीं है। ऐसा निर्देश करने की वेदसार की परिपाटी भी नहीं। वेदसार के वचन किसी हेतु या उदाहरण की अपेक्षा ही नहीं रखते। यहां पर तो प्रतिज्ञा ही सिद्धान्त होता है। वेदसार के मत में शायद प्रतिज्ञा के अतिरिक्त हेतु

उदाहरण, उपनय, निगमन वाक्य के अङ्ग ही नहीं होते। जो कुछ कह दिया वह कह दिया, उसमें तर्क-वितर्क का कुछ काम नहीं, वार्तालाप भी नहीं चल सकता, क्योंकि कोई छोटा है, तो कोई बड़ा। अस्तु, वेदसार का जो भी अभिमत या अभिमति हो, संसार में तो विचार को स्थान है और वह विचार चलेगा ही, वह कभी रुक नहीं सकता, वेदसार के संपादक को वह चाहे मान्य हो, या नहीं। वेदप्रेमी जनता तो इस पर अपना मत प्रकट करेगी ही। अभी वह युग नहीं आया, जब कि धरती से वेद के विद्वान् उठ गए हों। आगे आ जाय, कुछ कहा नहीं जा सकता ? परन्तु भारत में अभीं मीमांसक भी हैं, वैदिक भी हैं और वेद-प्रेमी भी हैं। यदि वेद के विद्वानों ने कभी भी झपेटा मारा तो गड़बड़ मचाने वाले हवा में उड़ने लगेंगे। हैद्राबाद के निजाम ने सत्यार्थ प्रकाश पर पावन्दी ही तो लगाई थी वेद तो भारत के सभी धर्मों के मान्य हैं और विधर्मी भी आदि वाङ्मय होने के कारण इन का विशेष आदर करते हैं और इन की रक्षा अपना कर्त्तव्य ही समझते हैं। अतः हमें ऐसे अवसरों पर भी ध्यान रखना ही चाहिए और धार्मिक भावनाओं को ठेस नहीं लगानी चाहिए।

प्रकृत विचार करते हुए प्रश्न यह उठता है, कि क्या वेद में 'खर्व' या 'कवि' शब्दों का प्रयोग नहीं है। वाचनिक विकार तो तभी माना जा सकता है, जब कि दो में से किसी एक का प्रयोग वेद में न हो। यदि दोनों ही शब्द वैदिक साहित्य में विशेष कर वेदों की संहिताओं में उपलब्ध होते हैं. तो एक शब्द दूसरे का वाचनिक विकार नहीं हो सकता। देखें वैदिक पदानुक्रमकोष संहिता भाग खण्ड २ में पृष्ठ १२०१ पर 'खर्व'

तथा 'खर्वा' के रूप हैं और पृष्ठ ११०० से ११०३ तक पूरे दस लम्बे २ कालमों में 'कवि' शब्द का रूप विस्तार है। वहां पर कहीं भी किसी स्थल को वाचनिक विकार या अन्य ढंग से आङ्गिक या कायिक प्रकार कुछ भी तो नहीं बताया है। वेदसार में ही ऐसा करने की क्या आवश्यकता पड़ गई ? यह किसी प्रकार भी समझ में नहीं आ रहा।

वैदिक पदानुक्रमकोष पृष्ठ ११०० से ११०३ तक जो कवि शब्द का विस्तार है, उसमें कवि शब्द की सिद्धि (b) टिप्पण में यों बताई गई है –

(b) विप., नाप. च व्यु. ?। [<√कु ⌊ शब्दे, ज्ञाने, दर्शने वा] [इति पाउ ४, १३९ (तु. या ⌊१२, १३;] दे ⌊३, १५] प्रभृ.)]"

अर्थात् कवि की व्युत्पत्ति में सन्देह है, परन्तु पाणिनिउणादि, यास्क और देवराजयज्वा ने बताया है कि यह "कु" धातु से बना है। जिस का शब्द, ज्ञान अथवा दर्शन अर्थ हो सकता है। यह नामपद तथा विशेषणपद के रूप में प्रयुक्त मिलता है।

अब देखें यहीं पर वैप पृष्ठ ११०२ में इस मन्त्र का "कवे...शौ १२, १, ६३; २०, २४, ६;" निर्दिष्ट किया गया है। शौ (अथर्व) १२, १, ६३, में 'कवे' भूमि के संबोधन में आया है, तथा २०, २४. ६; में 'इन्द्र' के संबोधन के रूप में प्रयुक्त है, जिस वेद के अथर्वा ऋषि या शौनक ऋषि ने "कवे" को इन्द्र के संबोधन में प्रयुक्त किया, वह "कवे" को भूमि के संबोधन में क्यों प्रयुक्त नहीं कर सकता ? दोनों स्थलों में प्रयोग की समानता क्यों नहीं ? वेदसार

के पाठक इसे वाचनिक बिकार क्यों मानें ? वैदिक पदानुक्रमकोष के पाठकों को यह क्यों नहीं सिखाया गया ? अथर्व वेद के १९६१ में प्रकाशित होने वाले तृतीय भाग में भी ऐसा दर्शाने वाला कोई टिप्पण कहीं पर नहीं ? वेदसार के ५१ तथा ६२ के दोनों संस्करणों में 'अकवे' निर्दिष्ट है। मध्यकाल में प्रकाशित अथर्व में क्यों कोई निर्देश नहीं ? संपादक या अधिसंपादक तो वैदिक पदानुक्रमकोष १४ भाग, अथर्व वेद ४ भाग तथा वेदसार दोनों संस्करण, इन सभी २० ग्रन्थों के एक ही हैं। सभी में समानता क्यों नहीं ? विषमता क्यों है ? सही कहा जाय तो यह वैदिक साहित्य के प्रति घोर अन्याय है, जिसे वेदप्रमी किसी स्थिति में भी टाल नहीं सकते ।

निरुक्त १२, १३; में ऋक् ५ मण्डल, १ सूक्त के दूसरे मन्त्र से कवि शब्द को उद्धृत किया गया है। इस सूक्त के पहले मन्त्र में कहा गया हैं, कि —

"मही देवस्य सवितुः परिष्टुतिः"

अब दूसरे मन्त्र में कहा जा रहा है, कि-

"विश्वा रूपाणि प्रतिमुञ्चते कविः"

इस पर यास्क-निरुक्त है-

"सर्वाणि प्रज्ञानानि प्रतिमुञ्चते मेधावी। कविः क्रान्तदर्शनो भवति, कवतेर्वा"

इसी प्रकार निरुक्तकार ने अध्याय ५ खण्ड २ में, ऋक् ३, ३, ४, का उदाहरण दिया है—

"पुरुप्रियो भन्दते धामभिः कविः"

यहां पर वैश्वानर अग्नि के लिए यह 'कवि' शब्द प्रयुक्त हुआ है।

कवि शब्द की व्युत्पत्ति तथा प्रयोग शब्दकल्पद्रुम (२ भाग) ६८ पृष्ठ पर यों है —

"(कवते सर्वम्, जानाति सर्वम्, वर्णयति सर्वम्, सर्वतो गच्छति वा, कव्+इन्। यद्वा कु शब्दे+"अच इः" उणादि ४, १३८;)"। और—

"(कवते श्लोकान् ग्रथते वर्णयति वा, कव्+इन्)।

पाठक इस शब्द के कतिपय प्रयोग भी देख लेवें :—

कविः=ब्रह्मा, इति हेमचन्द्रः —

"तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये,' इति भागवते।

कवि :=वाल्मीकिमुनिः,—

"एकोऽभून् (त्) नलिनात् ततस्तु पुलिनात्, वल्मीकतश्चापरः। त एव प्रथिताः कवीन्द्रगुरवस्ते भ्यो नमस्कुर्महे।" इत्युद्भटः

कवि :=शुक्राचार्यः इति महाभारते। (इत्यादि)।

मेदनी कोष में लिखा है—

"कविर्वाल्मीकिशुक्रयोः। सूरौ काव्यकरे०"

विश्वकोष में लिखा है—"कविः काव्यकरे सूरौ कविर्वाल्मीकिशुक्रयोः॥"

कवि शब्द का इतना प्रयोग लौकिक तथा वैदिक वाङ्मय में है, कि इस पर लिखने से नये बड़े २ ग्रन्थ बन सकते हैं। पुराने और नये सभी ग्रन्थ तो कविकल्पना से ही प्रसूत हैं। अतः कवि शब्द को खर्व का वाचनिक विकार मानना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। फिर 'अखर्व' कह कर हमने पृथिवी में विशालता ही तो लाई है। वह विशालता इसी सूक्त में सैंतीस बार प्रयुक्त पृथिवी शब्द से तथा चालीस बार प्रयुक्त भूमि

शब्द से यदि नहीं आ पाई, तो इस 'अखर्वे' पद से भी नहीं आ पायेगी। भूमि सूक्त के मन्त्र १, २ तथा ५५ में पृथिवी का प्रथन विशेष रूप से वर्णित है और मन्त्र १८ तथा ५५ में पृथिवी के मही-भाव की ओर संकेत है। पृथिवी की प्रथिमा; भूमि की भूमा तथा मही की महिमा यदि हमें पृथिवी की विशालता का बोध कराने में असमर्थ है ? तो यह थोपा गया अखर्व शब्द भी पृथिवी पर कुछ भी प्रकाश नहीं डाल सकता। फिर खर्ब शब्द तो बौने का वाचक है, इसका मैत्रायणी संहिता में स्पष्ट प्रयोग है "या खर्वेण पिवति तस्यै खर्वः" अर्थात् जो स्त्री छोटे पात्र से पीती है, उसके बौना बच्चा पैदा होता है। पृथिवी में न तो पात्र वाला ही बौनापन है और न हो बच्चे वाला, अतः अखर्व से अकव बनने की कल्पना कदापि संगत नहीं है। फिर इस कल्पित 'अकव' का कोई ठिकाना नहीं और किसी भिन्न अर्थ में भी इसका प्रयोग मिलता है। जैसे-'अकवेभिः' आदि। इस ओर विचार बढाने से छपाई का खर्च बहुत हो जायेगा।

हो सकता है. पथिवी को जड़ समझ कर ऐसी कल्पना की गई हो ? परन्तु यह भी संगत नहीं है।

'सर्वं खल्विदं ब्रह्म" कहने वालो भारतीय वैदिक परम्परा में जड़ चेतन का विभाग कहां ? व्यास जी ने ब्रह्मसूत्र में शाखादिकों में भी देवता का आरोप करते हुए कहा है—

"अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" वे.सू. २, १,५,

अर्थात् शाखादिकों के अभिमानी देवताओं का यहां पर व्यपदेश (कथन) है। तभी तो वेद में प्रयोग आ जाते हैं 'श्रोता

ग्रावाण: "पत्थरो सुनो इत्यादि। तथा च, वेदसार पृष्ठ १९ पर इस मन्त्र में कुछ पदों का अनुवाद है 'तू मुझे धन सपंत्ति और ऐश्वर्यवैभव का स्वामी बना कर धारण कर"—यदि वह पृथ्वी अचेतन है तो स्वामी कैसे बनावेगी, उस में कर्तृत्व कहां से आ पायेगा? जो कि चेतन का धर्म है। फिर यह कवि शब्द तो वेद को बहुत प्यारा है, तभी तो वैदिक पदानुक्रम कोष में इस के केवल स्थलसंकेत के लिए ही दस लम्बे कालमों का उपयोग हो गया। देखिए ऋग्वेद पहले मण्डल के दूसरे सूक्त के नौवें मन्त्र में ही हमें कवि शब्द का प्रयोग मिल जाता है। यहां पर द्विवचन में मित्रावरुण के लिए कवि का प्रयोग मिलता है। ऊपर के उदाहरणों से पाठक यह भली भांति जान गए होंगे, कि जो कवि-शब्द इन्द्र, मित्र, वरुण, सविता और वैश्वानर-अग्नि आदि के लिए प्रयुक्त है, जिसका वेद में बहुत अधिक प्रयोग भी है, उस कवि का रूप वेद के त्रिकालदर्शी ऋषियों के मुख से (थुथलाते थुथलाते) वाचनिक विकार होकर, खर्व से कैसे बना है? यह कैसी असंगत और अन्याय्य कल्पना है? फिर यह भी तो वैदिक सिद्धान्त है कि—

"देवो भूत्वा देवं यजेत"

देवता बनकर देवता की पूजा करें। यदि पूजक कवि हैं और पूज्य कवि नहीं है, तो पूजा ही क्या है?

वामदेव, वशिष्ठ, विश्वामित्रादि ऋषि, वाल्मीकि, व्यास कालिदासादि सदृश कवि जिस भूमि पर जनमे हैं, जनम रहे हैं और जनमते रहेंगे, जो पृथिवी युगों से कवियों को जन्म देकर अन्न, जल, आश्रय और वस्त्रादि सभी कुछ दे रही

है। जिस भूमि पर बहते हुए झर-झर करते झरने, कल-कल करते नाले, बल खाकर गाती बहती नदियां, छर-छर करते जलप्रपात, सर-सर करती वायु और धांय-धांय करने वाला झंझावात सहृदय के हृदय में भावना तथा कवि के अन्त-स्तल में स्फूर्ति एवं प्रेरणा प्रदान करते हैं। जिस पृथ्वी पर खड़े घने जंगल, गगनचुम्बी पर्वतमालाएं, उजड़े रेगिस्तान और सूखे पेड़ भी कवि की कविता को स्फूर्तिपूर्ण उद्गम देकर मानव जगत् में सम्मानित कर देते हैं। जिस पृथ्वी पर चूं चूं कर प्रातः फुदकते हुए उडान भरने वाले पक्षी अपनी मादकता लिए हुए कवि की झोली भर कर उसे निहार कर देते हैं। जिस गोरूपा पृथ्वी की गौएं कृष्ण को मधुर मुरली की धुन सुनाने के लिए विवश कर देती हैं। जिस पृथ्वी पर खड़ा मानव हृदय द्युलोक की छवि निहार कर वहां पर सूर्य, चन्द्र और नक्षत्रादि की ज्योतियों से जग-मग हो जाता है। (इसी भाव से तो अथर्वा ऋषि ने इस मन्त्र में 'दिवा' शब्द को कवे से पहले रखा है)। जिस पृथ्वी का हृदय छेद कर बरसात में निकलने वाला सद्यः विनाश होने वाला कुकुरमुत्ता भी निराला को महाकवि बना चुका है। जिस पृथ्वी का आश्रय पा कर ही मानव चन्द्रलोक तक की उडान भरने का उत्साह कर रहा है। जो पृथ्वी मिट्टी, पत्थर, कंकड़, रेत से लेकर मिट्टी का तेल, पेट्रोल, सोना, कोयला, हीरा आदि भी देती है। जिस पृथ्वी से यूरेनियम आदि पाकर मानव ने अणुशक्ति का आविष्कार कर लिया, जिसके सदुपयोग से वह देव भी बन सकता है और बनेगा, तथा दुरुपयोग से दानव भी। अभी पता नहीं किन २ क्रान्तदर्शी पदार्थों को मानव ने इस महामहिमा-मही-

यसी-मही से प्राप्त करना है? ऐसा क्रान्तदर्शी भावनामय, ओजोयुक्त तथा दिव्यभावसमन्वित प्रज्ञा का पारवार जो पृथ्वी देती है और मानव को जन्म देकर पालन पोषण करके कवि या महाकवि बनाकर सम्मानित करती है। यही नहीं, अन्त में भी उस कवि की अमर कीर्ति-पताका फहरा कर उसे अपने में ही खपा लेती है। उसे यदि अथर्वा ऋषि ने 'कवे' कहकर ऋषि का दर्शन उपस्थित किया, तो क्या अपराध कर दिया? उस 'कवे' को 'अकवे' करके 'अखर्व' से सिद्ध करते हुए हमने ही कौन सी बुद्धि का परिचय दिया? या क्या चमत्कार दिखाया? इसे यदि लोग हमारी अज्ञता कह कर हमें कोसें? तो यह अनुचित नहीं होगा। जिस पृथ्वी की प्रथिमा को पृथ्वी और भूमा को भूमि शब्द से इस सूक्त में लग-भग अस्सी बार कहा गया है, उसे हम 'कवे' से 'अकवे' और उस का मूल 'अखर्वे' करके पाना चाहें, यह हमारी कैसी बुद्धि है? शास्त्रकार कहते हैं, कि—

"अक्के चेन्मधु विन्देत किमर्थं पर्वतं व्रजेत्"

यदि हमें घर के कोने में ही शहद प्राप्त हो जावे, तो पहाड़ पर क्यों जावें? फिर ऊपर बताया ही जा चुका है, कि यहां पर ऐसा न तो वैदिकपदानुक्रमकोष में ही निर्देश है और न ही वहां से १९६१ के प्रकाशित अथर्ववेद (सायण भाष्य) में। अतः कवे को अकवे (< >अखर्वे) बदलना किसी भी दृष्टि से संगत नहीं है। साथ ही यह भी प्रश्न उठता है कि, यदि अथर्व के भूमि सूक्त के पहले ६२ मन्त्र ही वेदसार में संग्रह करने के योग्य न थे? तो इसे ही संग्रह क्यों किया गया? संपादक महोदय इसे भी उन मन्त्रों की भांति असार समझ लेते और यहां

संग्रह न करते। यदि संग्रह किया है—तो कर्तव्य हो जाता है, कि वैदिक महर्षि के दर्शन को देखें। नहीं देखने पर क्या कहा जायेगा ?

अब विज्ञ पाठक तीसरा नमूना भी देख लेवें। वह है मन्त्र २१२ (पृष्ठ १०८)। इस मन्त्र के तीन अर्ध थे। अन्तिम दो अर्ध ही वेदसार में रखे गए हैं और मन्त्र का पहला अर्ध छोड़ दिया गया है। पाठक अथर्व (शौनक शाखा) ८, २, १४ मन्त्र को किसी भी ग्रन्थ से मिला कर देख लेवें। पहले अर्ध को छोड़ देना किसी प्रकार भी संगत नहीं है। वेदसार में कहीं पर भी इस के लिए कोई कारण निर्दिष्ट नहीं है। पीछे बताया ही जा चुका है, कि वेदसार की हेतु या युक्ति देने की परिपाटी ही नहीं है। यह भूमिका तथा परिशिष्टों में भी भली भांति स्पष्ट ही है। मन्त्रपाठ यह है—

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असन्तापे अभिश्रियौ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे।
शिवा अभिक्षरन्तु त्वाऽऽपो दिव्याः पयस्वतीः॥

सायणभाष्य में इस सूक्त का विनियोग बालक के नामकरण, अन्नप्राशन, चौल या उपनयन आदि कर्मों अथवा पुरुष के गोदानादि संस्कार में बताया गया है। वेदसार में इसे "४०-प्राण प्रत्यास्थापन" शीर्षक दिया गया है। पैप्पलादसंहिता १६, ४, ४; में भी यह मन्त्र पढ़ा गया है। इस शीर्षक के अन्दर मन्त्र प्रायः इसी सूक्त से लिए गए हैं। बीच २ में से मन्त्रों को छोड़ दिया गया है। प्रथम तो मन्त्रों का विन्यासक्रम बदलना ही उचित नहीं है। फिर मन्त्र का अत्यन्त उपयोगी भाग छोड़ दिया जाय, यह किसी दृष्टि से भी संगत नहीं है। सूक्त के ब्रह्मा ऋषि हैं, उन के दर्शन में

इस बात का महत्त्व निर्दिष्ट है, कि यदि द्यावापृथिवी को शान्तिकारक बनाने वाले मन्त्रार्ध को छोड़ दिया जाय, तो अगले दो अर्धों में वर्णित सूर्य के तपने के लिए, वायु के वहने के लिए और जल के क्षरण के लिए अथवा जिस व्यक्ति का संस्कार हो रहा है उसके उपवेशनादि के लिए आधार ही क्या रह जावेगा ? निराधार क्या संस्कार होगा और क्या शान्तिकामना होगी ? इसी कारण अगले मन्त्र में भी ब्रह्मा ऋषि के दर्शन में अधरा तथा उत्तरा पृथिवी में सूर्यचन्द्र-रूपी दोनों आदित्यों को ही रक्षाकारक कहा गया है।

छन्द की दृष्टि से भी यह संगत नहीं है । क्योंकि इस मन्त्र में त्र्यवसाना षट्पदा जगती छन्द है ।

इन्हीं हेतुओं से निरुक्तकार ने कहा है, कि—

"पुरुषविद्या अनित्य है, अतः वेद के मन्त्र ही कर्म की संपत्ति करने वाले हैं" । (मूल वाक्य पीछे पृष्ठ ११ पर हैं) ।

वेद के मन्त्रों में छोटे से छोटे तथा महत्त्व पूर्ण सभी प्रकार के विषयों का ध्यान रखा जाता है। अत एव वेद का वेद=ज्ञान ही रूप हैं। थोड़ा सा भी मनन करके पाठक मन्त्र के तीनों अर्धों की संगति लगा लेवें और तब तीनों को ही संगत कहेंगे। पहले अर्ध को छोड़ दिया जाना किसी दृष्टि से भी संगत नहीं है। उसे न रख कर वेद का अङ्ग भङ्ग ही किया गया है।

कहां तक गिनाया जावे, वेदसार में ऐसी उपेक्षा बरती गई हैं, कि वर्णन से ही बाहर है। पता नहीं, किसके जिम्मे यह काम श्री अधिसम्पादक महोदय ने लगा दिया, जिसने इस में पूरी जिम्मेदारी नहीं निभाई और उन के लगभग ३० विद्वान् सहयोगियों के साथ लगभग ५० वर्ष के किए गए अर्थात्

३०×५०=१५००वर्ष के तपस् तथा त्यागपूर्ण ज्ञानसत्रको वैदिक जगत् के सामने हीन कोटि में लाकर रख दिया है। क्योंकि वेदसार के शोध तो वहीं के छपे वैदिक पदानुक्रमकोष (१४ भागों) तथा अथर्ववेद (सायण भाष्य) ४ भागों से भी मेल नहीं खाते। यदि श्री विश्वबन्धु जी ने यह सब स्वयं किया है, तो उन से ऐसी उपेक्षा की आशा नहीं की जाती है और न ही ऐसा करना उन के योग्य है।

सन्धियों आदि की दृष्टि से वेदसार का पूरा मन्त्रपाठ भ्रष्ट है। पीछे कुछ मन्त्रों पर विस्तार से विचार किया गया। अब हम कुछ अन्य मन्त्रों की मुख्य भूलें भी पाठकों के सामने संक्षेप में प्रस्तुत करते हैं, ताकि पाठक देख लें, कि किस २ मन्त्र में क्या २ गड़बड़ है।?

मन्त्र १ (पृष्ठ ६) ऋग्वेद ८, ३७, २० से लिया गया है। इसके आगे-पीछे के मन्त्र शायद असार समझ कर छोड़ दिए गए हैं। इस मन्त्र को पाठक ऋग्वेद के किसी भी संस्करण से मिला कर देख लेवें। वेदसार के १९५१ तथा १९६२ वाले दोनों ही संस्करणों में विसर्ग छोड़ दिए हैं। यदि नीचे का उदात्त बताने वाला चिह्न भी गायब होता? तो निश्चित ही यह शब्द 'शरु' का विशेषण बन जाता। यहां पर यह संबोधन बहुबचन है और विसर्ग का लोप 'कृत्रिमा' शब्द परे होने के कारण हो नहीं सकता। विसर्गहीन पाठ का अर्थ हो जावेगा कि यह शब्द स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है और शरु को अदिति या आदित्य से सम्बन्ध रखने वाली बता रहा है। जो लोग स्वर के अन्तर को नहीं जानते, उन के लिए अब भी यह ऐसा ही बन रहा है। सामने के अनुवाद में 'हे आदित्यो' संबोधन तथा नीचे

लगा हुआ उदात्त चिह्न ही इसे ठीक अर्थ में रख कर बचा रहा है। यहीं तक नही है, जनवरी ६३ की विश्वज्योति में भी विसर्गहीन पाठ ही छपा है। १९५१ से १९६३ तक यह विसर्ग लगातार छोड़ी जा रही हैं। बार बार ऐसा छपने से इसे छापे की भूल तो माना नहीं जा सकता। विसर्ग का यहां पर लोप भी नहीं हो सकता और न ही वेद की संहिताओं में ऐसा पाठ कहीं पर है।-वैदिक पदानुक्रमकोष में भी पाठ विसर्गसहित ही है। वेदसार दोनों संस्करणों तथा विश्वज्योति में क्यों विसर्ग नहीं रहीं ? क्या पाठ्यक्रम में सार रखकर विसर्ग का भार दूर कर दिया ?

विसर्गों का वैदिक वाङ्मय में बहुत महत्त्व बताया गया हैं। केवल याज्ञ-वल्क्यशिक्षा में ही ६४ से ७० तक पूरे सात श्लोकों में विसर्गों का महत्त्व बताया हैं। विसर्ग के १ प्रचिता २ बलका ३ तरा-तीन भेद भी किए हैं। इसके अतिरिक्त जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय भेद अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। विसर्गों की रक्षा के लिए ही वैदिक सम्प्रदाय में ÷ ⁝ ⍨ यह तीन चिह्न भी प्रयुक्त किये जाते हैं। उक्त शिक्षा में विसर्ग का रूप यों बताया है—

"शृङ्गवद्वाऽथ वत्सस्य कुमारी-कुचयुग्मवत्।
उभक्षेपस्वरो यत्र स विसर्ग उदाहृतः" ॥६४॥

अर्थात् बछड़े के सींगों तथा कुमारी के कुचों की भांति ही गोल सा चिह्न विसर्ग के लिए प्रयुक्त होता है। अगले छः श्लोक विसर्ग के भेदादि पर प्रकाश डालते हैं। इतनी महत्त्वपूर्ण विसर्ग को जानबूझ कर तीन २ बार छापे में बारह बरस तक छोड़ देना क्या प्रकट करता है ?

मन्त्र ७ तथा १० के तीसरे पादों में तथा ५२ के दूसरे पाद में संहिता में अक्षरवृद्धि कर दी गई है। ऐसा ही अन्यत्र भी है।

मन्त्र १२(ऋग्वेद १०,६३,१४) में 'इन्द्र" सम्बुद्धिपद है और "सानसिम्" रथ का विशेषण। परन्तु वेदसार में इसे समस्त रखा गया है।पृष्ठ १५५ परिशिष्ट (२) में भी ऐसा ही है और सामने पृष्ठ ९ पर अर्थ किया है "इन्द्र-द्वार तक पहुंचाने वाले ...रथ"। इस से तीसरे पाद का संबोध्यपद जो वहां था, वह नहीं रहा और अर्थ भी ठीक नहीं रहा। फिर उसी प्रकार का प्रयोग ऋग्वेद १,८,१; आदि में भी है। यदि 'इन्द्रसानसिम्' को पदपाठादि के विरुद्ध एकपद माना जाय। तो ऐसा करने से सभी स्थल आपत्तिजनक बन जावेंगे और वेदपाठ की स्थिति बदल ही दी जावेगी।

मन्त्र १३ ऋक् १०, ६३, १५, 'स्वस्त्यप्सु,' १८ अथर्व १६, ९,१, उर्वन्तरिक्षम्, २६ ऋक् १०,९,७, तन्वे, २७ अथर्व १, ६, ४, धन्वन्याः तथा अनूप्याः आदि में स्वरित विशेष का शिक्षादि के अनुसार निर्देश नहीं है,जोकि वैदिक स्वरित विशेष के परिचय के लिए Vedic Grammar के उदाहरण के रूप में भी अत्यन्त अपेक्षित है।

मन्त्र १४ (ऋक् १०, ६३, १६,) में "रेक्णस्वतो" शब्द की स्थिति पीछे सन्धियों में बता ही दी है।

मन्त्र १६ (ऋक्१,९०,९) में 'शमु' पद में वर्तमान'उ' का पद पाठ में'ऊमिति,' इत्यादि निर्देश वैदिक पद्धति में किया जाता है, परन्तु इस का या आगे आने वाले ऐसे अन्य स्थलों का कहीं पर भी कोई निर्देश नहीं है।

मन्त्र २० यजुः ३६, १०, में पवता ॐ. में प्रयुक्त ॐ, का, तथा आगे २१, १०७, १५८, १७१, १७८ आदि मन्त्रों में प्रयुक्त ॐ का परिचय वेदसार से गुम ही हो गया है।

मन्त्र २९, सामवेद से केवल यही एक मन्त्र (६१६) लिया गया है। उसमें न तो साम की उदात्तादि पद्धति है और न ही उस पर गीतियों का कहीं कुछ परिचय है। यदि साम का कुछ परिचय देना अभीष्ट न था,तो इसे भी छोड़ देते।

मन्त्र ३० ऋक् (१ २२, १५.) में सन्धि तोड़ कर व्यर्थ अक्षरवृद्धि की गई है। यदि इस मन्त्र को ऋक् के स्थान पर शु. यजुः से रखा जाता तो उत्तम होता।

मन्त्र ३१ (अथर्व १२, १, ६३,) पर पीछे विचार किया ही जा चुका है।

मन्त्र ३५ (ऋक् ४, ५७, २, पृष्ठ २०) के ४र्थ पाद में 'नः' की विसर्ग हटाकर नीचे उदात्त का चिह्न (स्वकल्पित-रीति) से दे दिया है। इस से नः=अस्मान् का अर्थ ही उलट गया है और न निषेधार्थक बन रहा है।

मन्त्र ४७ (अथर्व १९, १५, ३, पृष्ठ २६) के २य पाद में "परस्फानः' के स्थान पर "परस्पानः" वृद्धिवाचक "√स्फायी" धातु का ही अपलाप कर रहा हैं। इसी मन्त्र के चौथे पाद में "स" अनुदात्त हो कर कहीं जोड़ ही नहीं खाता।

मन्त्र ५३ (अथर्व ३, १६, ४, पृष्ठ २८) तथा १०५ (पृष्ठ ५२) आदि में रङ्ग का प्रयोग है; परन्तु वेदसार में इसका यहां पर निर्देश भी नहीं है और कहीं पर परिचय भी नहीं दिया। परिशिष्ट (१) पृष्ठ १३९-१४० में इसे अनुस्वार (चन्द्रविन्दु)

कहा गया है। इसका व्याकरण तथा शिक्षादि में विशेष वर्णन है।

पृष्ठ ३० पर "उषो देवतयाः शुभागमनम्" में केवल दो मन्त्रों को देखकर चित्त में खेद होता है। जिन उषः-सूक्तों को पढ़कर पश्चिमी विद्वान् भी झूम उठे थे और उन्होंने मुक्त कण्ठ कहा था—"Lofty ideas" (देखें Winternitz आदि के ग्रन्थ)। उस उषा के लिए वेदसार के संपादक को दो ही मन्त्र मिले। फिर उन के पाठ में भी विवाद हैं। देखें—फरवरी ६३ की विश्वज्योति के अंक में प्रकाशित वेदामृत। (संभवतः अमृत और सार का अन्तर ही ऐसा अन्तर करने में हेतु बना हो)?

पृष्ठ ३६ पर पांच मन्त्र हैं और पांचों को अशुद्ध कर दिया गया है। ६९ (अथर्व १९. ५५, ३,) तथा ७० (अथर्व १९, ५५, ४,) मन्त्र के तीसरे पादों में "वसुदानः" एकपद को दो पदों में विभक्त कर दिया गया है "वसुदा नः"—ऐसा करना संहितापाठ, पदपाठ तथा अर्थ की दृष्टि से उचित नहीं हैं। इसके अनन्तर ७१, ७२, ७३, (अथर्व १९, ५५, ५ से ६,) मन्त्रों में संहिता पाठ आदि का क्रमभंग किया हैं अर्थात् दो मन्त्रों को तीन मन्त्रों में बदला है। ७२ मन्त्र में पाठ बदला हैं और ७३ मन्त्र में "रायपोषेण" आदि अर्ध को अन्य मन्त्रों से लेकर रख दिया है। ७२ मन्त्र में इन्द्रा के बाद के विसर्ग संगत नहीं हैं। व्यश्नवत् के स्थान पर व्यश्नवत करना भी बहुत विचार की अपेक्षा करता हैं। यहां पर छोटे २ टिप्पण अथर्ववेद के संस्करण में भी हैं। इन सब को उसी स्थल के विचार आने पर विचार किया जावेगा। पाठकों ने पीछे कुछ विस्तार से

विचार पढ ही लिए हैं। अतः यहां पर भी विचार करने से विस्तार ही हो जावेगा और पुस्तक का कलेवर इतना बढ जावेगा, जिसे छाप देने के लिए खर्च करना हमारी आर्थिक क्षमता से बाहर है। यदि उदार दाताओं से दान का सहयोग मिला, तो फिर लम्बा विचार चलाने के लिए एक पत्रिका की अपेक्षा है, जिसके द्वारा समय २ पर यथोचित विचार प्रकट किए जा सकते हैं।

मन्त्र ७४ (पृष्ठ ३८) को ऋक् ७, ५६, १२ से दिया गया हैं, इसे यदि यजु:मा· ३, ६०. से दिया जाता, तो विशेष हो जाता। इसी प्रकार मन्त्र ७९ (पृष्ठ ४०) को भी यजुः (मा· ३८, ५) से ही देना युक्त था, क्योंकि यहां पाठ यजुः वाला हैं। इस मन्त्र के पाठ की वेदसार में निर्दिष्ट स्थल ऋक् १, १६४, ४९ से तुलना करने पर यहां दूसरे तथा तीसरे पादों में पाठ का व्यत्यास मिलता है। यहां पर भी शाखा के भेद के आधार पर पाठ के भेद को प्रकट करने के लिए एक विस्तृत लेख लिखा जा सकता है।

पीछे बताया जा चुका है कि मन्त्र ८४, २१०, २११ तथा २१८ आदि कुछ मन्त्रों में सन्धि प्रदर्शन का ढंग ठीक हैं। इस प्रक्रिया में मूल पाठ के पढ़ने में कुछ व्यवधान अवश्य पड़ जाता है। इस प्रक्रिया को यदि निश्चित निभाया जाता, तो कम से कम सन्धियों के दोष तो बच ही जाते और छन्दस् में अक्षरवृद्धि आदि भी न होती।

मन्त्र ९६ अथर्व ६, १०८, ५, (पृष्ठ ४८) के चौथे पाद में 'वचसा' को आद्युदात्त ही रखा है। अन्तिम उदात्त चिह्न जो "आङ्" की सन्धि को बताता था, छोड़ा गया है और 'आ' का

"SS" चिह्न भी निर्दिष्ट नहीं है। इससे 'आङ्' उपसर्ग पाठ से लुप्त हो गया है, जिससे उस का आभिमुख्यादि अर्थ भी समाप्त हो गया है, अनुवाद में भी आङ् संशय में ही पड़ा हुआ है, यद्यपि अथर्व वेद (१९६१ में प्रकाशित) द्वितीय भाग पृष्ठ ८१० में पदपाठादि देखने से 'आङ्' की यहां पर स्थिति पुष्ट है। इस आङ् को लुप्त कथमपि नहीं किया जा सकता।

मन्त्र ९७ अथर्व १२,१, ५३, (पृष्ठ ४८) के प्रथम पाद में दीर्घ 'चा' के बाद अल्पविराम लगाया गया है। ऐसा करने से संध्यभाव निश्चित हो गया। सन्धिछेद या किसी प्रकार की सुगमता नहीं बन पाई।

मन्त्र १०१ ऋक् १०. १२८, ४; (पृष्ठ ५०) में 'हव्या' की स्थिति भी पूर्व मन्त्रवत् ही है।

मन्त्र १०३ ऋक् १०,३५,१३ (पृष्ठ५२)के तीसरे पाद में 'भवन्तु' लोट् के रूप के स्थान में 'भवन्ति' लट् का रूप है। सन्धि में 'व' के स्थान पर 'य' छापे की भूल नहीं कहा जा सकता। सामने पृष्ठ ५३ पर अर्थ भी "होकर आवें" है। जिसे विध्यादि में ही संगत किया जा सकता है। संपादक महोदय ने यदि कहीं इसे 'आगमन्तु' का अर्थ रखा है, तो 'भवन्ति' या 'भवन्तु' का अर्थनिर्देश भी छोड़ दिया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। ऐसा करना उचित नहीं था और न ही अपेक्षित है।

मन्त्र ११५ तथा ११६ अथर्व १९, ६०, १--२ के विषय में पीछे लिखा ही जा चुका है।

मन्त्र ११८ अथर्व ८, ५, १८, (पृष्ठ ५८) के प्रथम पाद में "द्यावापृथिवी" को आद्युदात्त निर्दिष्ट किया है,जब कि इस पद में आदि तथा अन्त दोनों ही उदात्तहोते हैं। देखें—अथर्ववेद (१९६१

में प्रकाशित) २ य भाग पृष्ठ १११८ में संहिता तथा पदपाठ दोनों में ऐसा ही पाठ है।

मन्त्र १२५ अथर्व ६, ३८, १ (पृष्ठ ६२) के पहले पाद में "पृदाकौ" पद निघात हो रहा है। हो सकता है 'ऋ' के चिह्न के नीचे उदात्त का चिह्न ठीक नहीं छप पाया हो ? इस पद का निघात होना किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं हो सकता।

पृष्ठ ६४ की दशा ही निराली है। नीचे चिप्पी लगाने पर भी मंत्र१२७अथर्व ६,३८,३,में १ वाजे,२ वाते,३ वरुणस्य,४ देवी और ५ वर्चसा पूरे पांच पद निघात बन गए है। इनके निघात हो जाने से अर्थ का जो अनर्थ हो रहा है, वह यदि स्पष्ट किया जावे, तो सामान्य पाठकों के लिए तो सिरदर्दी ही बन जावेगी, परन्तु विज्ञ पाठकों के लिए भी यह जलताडन की भांति व्यर्थ ही होगा। क्यों कि इन का निघात होना उपपन्न नहीं होता। अतः केवल संकेत मात्र ही पर्याप्त है।

मंत्र १२६ का स्वरितविशेष स्वकल्पितस्वरनिर्देशपद्धति में ही दब रहा है। नोचे लगी हुई चिप्पी स्पष्ट कर रही है, कि १६५१ वाले छपे फर्मे ही १९६२ के संस्करण में प्रयुक्त किए गए हैं। 'पुरानी शराब नई बोतलों में, कहना' तो वेद के लिए उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। परन्तु नवीन संस्करण करते हुए पुराने छपे फर्मों का उपयोग उचित नहीं है। पुराना संस्करण अलग चल रहा है, चलता रहे। नवीन संस्करण में यदि छपाई नहीं की जा सकती, तो कम से कम शुद्धिपत्र तो लगाना ही चाहिए। १९५१ से १९६२ पर्यन्त ग्यारह वर्ष बीते हैं। इस बीच के लम्बे काल में अशुद्धियों पर भी ध्यान देने का कष्ट नहीं किया गया। इसे क्या कहा जा सकता है ? फिर १४,४,६१ को

जब पुस्तक विश्वविद्यालय की M. A. परीक्षा के लिए पाठ्य बना दी गई और उसका मान बढ़ गया, तो मान के अनुरूप 'कलेवर' या 'परिधान' भी बनना हो चाहिए था। वही पुराने छपे फर्में नई जिल्द में उपयुक्त नहीं करने थे।

मन्त्र १४६ अथर्व १,१५, २, (पृष्ठ ७२) में 'संस्रावणा' एक (समस्त) पद है । यह भी चरणविभाग में पड़ कर मन्त्र १४ में निर्दिष्ट 'रेवणस्वती' की तरह ही रखा गया है और दुरूह बन रहा है। बीच में डैश का प्रयोग तो उचित हैं, परन्तु अल्पविराम आगे के सम्बंध को अल्प बना रहा है।

मंत्र १४७ अथर्व १,१५, ३, (पृष्ठ ७४) में 'संस्रवन्ति' का निघात रूप में प्रयोग हैं। पा. ८, १, ६६ के अनुसार इसे निघात का निषेध होता है। संहिता पाठ तथा पदपाठ [अथर्ववेद १, १५, ३ प्रथम भाग पृष्ठ १००] में 'स्र' उदात्त निर्दिष्ट है। अतः यहां का अनुदात्त संगत नहीं होता।

मन्त्र १४८ अथर्व १, १५, ४, (पृष्ठ ७४) के तृतीय पाद में 'तेभिः' की विसर्ग भी उपपन्न नहीं होती। संहिता में इसका रभाव कैसे हटा ?

मंत्र १५० ऋक् ९, ६७, २३ में 'अर्चिषि, अग्ने' निर्देश करना वाचनिक तथा संहिता के आधार पर किसी प्रकार भी उचित नहीं है।

मंत्र १६३ अथर्व ६, ११५, २, (पृष्ठ ८०) तथा १६४ (पृष्ठ ८१) में द्रुपदादिव का नित्य समास भी विच्छिन्न कर दिया गया है।

मंत्र १६४ अथर्व ६, ११५, ३, में तो इसे निघात भी कर दिया गया है। यह दोनों ही अनुपपन्न हैं।

मंत्र १६८ ऋक् ७, ८९, ५, (पृष्ठ ८२) में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के पाठों की खिचड़ी पकाई गई है। नीचे संकेत ऋक् ७, ८६, ५ का दिया है, परन्तु तीसरे पाद में अथर्व वेद ६, ५१, ३ के पाठ "अचित्त्या चेत्" को अपनाया है। शौनक शाखा में 'चरामसि' के स्थान पर 'चरन्ति' पाठ है। इन पाठों की विशेषता पर ध्यान देने के लिए ऋग्वेद, तैत्तिरीयसंहिता ३, ४, ११, ६; तथा अथर्ववेद के सूक्तों पर एक पृथक् लेख लिखना आवश्यक है।

मन्त्र १६९ अथर्व ६, ४१, ३; (पृष्ठ ८४) के द्वितीय पाद में 'तन्वः' के स्थान पर 'तन्वाः' छापा गया है। यह भी संहिता पाठ तथा पदपाठ (अथर्व ६, ४१, ३, पृष्ठ ७००) के अनुकूल नहीं है।

मंत्र १७२ ऋक् १०, १६४, १ (पृष्ठ ८४) के चौथे पाद में 'बहुत्रा' के स्थान पर 'बहुधा' पाठ कर दिया है। जो कि किसी प्रकार भी संगत तथा ठीक नहीं है।

मंत्र १७४ ऋक् १०, १६४, ३; (पृष्ठ ८६) के तीसरे चौथे पादों में विच्छिन्न पाठ वाचनिक तथा सांहितिक आधार पर उचित नहीं है।

मंत्र १८२ यजुः १८, ७, (पृष्ठ ९२) में 'सूः' को निघात किया गया है; यह उपपन्न नहीं होता है।

मंत्र १८४ यजुः १८, ९, में 'औद्भिद्यं' से पूर्व 'मे'--पाठ संहिता में उपपन्न नहीं है।

मंत्र १९० यजुः १८, १५, (पृष्ठ ९६) की दूसरी पंक्ति में 'शक्तिश्च म,' ऐसा पाठ 'शक्तिश्च मे' के स्थान पर कैसे हो

गया ? 'मे' का ए कहां गया ? आगे अर्थश्च के 'अ' का पूर्व रूप भी कैसे हुआ ?

मंत्र १७६ से १६० (यजु: १८,१ से १५) पर्यन्त चरणकल्पना भी मूल संहिता पाठ के विरूद्ध है।

मंत्र १९४ ऋक् १०. १३७, २; (पृष्ठ ९८) पर 'वात:' निघात क्रियापद को आद्युदात्त रखना तथा अगले 'आ' को उदात्त नहीं रख कर निघात कर देना, न तो संहिता-पाठ या पदपाठ के (ऋ १०, १३७, २) के अनुरूप है और न ही किसी व्याकरणादि से सम्मत है। यह सौवर-सिद्धान्तों की अनभिज्ञता का भी परिचायक है।

मन्त्र १९८ अथर्व ७, ५३, २, (पृष्ठ १००) के 'क्रामतम् ......'जहीतम्' के स्थान पर प्रथम पदों में मध्यम पुरुष का प्रयोग संहितापाठ तथा पदपाठ (अथर्व ७, ५३, २ पृष्ठ ६४६) के आधार पर भी अशुद्ध है और उपपन्न भी नहीं होता।

मन्त्र १६६ अथर्व ७, ५३, ३, में 'निर्ऋते' पद आद्युदात्त रखना चाहिए, मध्योदात्त नहीं। वेदसार में निर्दिष्ट मध्योदात्त किसी दृष्टि से भी उपपन्न नहीं है।

मन्त्र २०८ अथर्व ८, २, २; (पृष्ठ १०६) में 'मृत्यु-पाश' पद समस्त है और इसका अन्तिम अक्षर 'श' उदात्त है। वेदसार में दो उदात्त निर्दिष्ट हैं। जो किसी प्रकार भी उपपन्न नहीं होते। देखें-अथर्व ८, २, २, संहितापाठ तथा पदपाठ (पृष्ठ १०७२)।

मन्त्र २१२ अथर्व ८, २, १४, पर पीछे विचार हो चुका है।

मन्त्र २१६ में आप्यायमाना: की विसर्ग छूट गई है। यहऋ १०, १८, २ का मन्त्र है। विसर्ग के महत्त्व पर पीछे ५ मन्त्र में लिखा जा चुका है। यहां भी विसर्ग का लोप नहीं हो सकता।

मन्त्र २२३ यजु: २२, २२, (पृष्ठ ११४) में 'वोढा' शब्द भी निघात कर दिया है। यह उपपन्न नहीं होता।

हो सकता है अब भी कुछ अन्य परिवर्तन पकड़ में न आए हों। कुछ सामान्य सन्धि आदि के परिवर्तन छोड़ भी दिए गए, हैं। इन परिवर्तनों को देखने से पाठक यह तो जान ही गए, कि वेदसार में निराधार पाठ परिवर्तन किए गए हैं और पाठ रखने में उपेक्षा भी बरती गई है। अक्षरवृद्धि, छन्द की अनवस्था और स्वरदोष आदि इन सभी मन्त्रों में पाठकों ने दृष्टिगोचर कर लिए। संपादक महोदय इन्हें छापे की भूलें भी नहीं मानते और वेदसार की प्रस्तावना पृष्ठ ८ की १५ से १७ पंक्तियों पर ही स्थिर हैं और वेद का शुद्ध या शोधित कर देने का दावा भी करते हैं। अतः पाठक ज़रा इनकी रचना का भी स्वाद ले लेने की कृपा करें। इस से पाठक यह भली भांति जान जावेंगे, कि वेदसार के संपादक महोदय कितनी गहरी योग्यता के परिनिष्ठत विद्वान्, मार्मिक आलोचक और अनूठे पारखी हैं —

वेदसार पृष्ठ ११४ (संस्करण १९५१ तथा १९६२) को पुष्पिका में इन्होंने श्लोक बना कर रखा है।

"अस्मिन् संग्रहे भद्रे, साधिते विश्वबन्धुना।
वेदसारे गतः खण्डः, प्रथमः साध्यदर्शनः ॥१॥"

सभी पाठक जानते हैं कि अनुष्टुप् के ३२ अक्षर होते हैं। परन्तु इसमें कुल मिलाकर इकतीस अक्षर हैं। यदि इसे संपादक महोदय का कृत या रचित मन्त्र भी मान लिया जाय ? तो भी इस में ऊह आदि की कोई गुंजाइश किसी प्रकार नहीं है। इसमें प्रयुक्त साधित और गत आदि शब्दों या शेष शब्द-विन्यास पर यदि साहित्यिक आलोचना प्रस्तुत कर दी जावे, तो एक नया निबन्ध तैयार हो जायेगा।

इस श्लोक का सामने पृष्ठ ११५ पर हिन्दी रूपान्तर यह है—

"विश्वबन्धु-कृत वेदसार का, साध्य-खण्ड संपूर्ण हुआ।
सहृदय वाचकगण का जीवन, सफल मनोरथ तूर्ण हुआ।।"

विज्ञ पाठक इस को भी देख लें। तुकबन्दी ही तो है। जाट, खाट वाला ही मेल हैं। न पुष्पिका के अनुरूप श्लोक और न ही हिन्दी कविता। यदि रचना नहीं हो पाती थी ? तो इसके विना भी पुस्तक जो कुछ थी वह थी ही। आवश्यकता ही क्या थी, कि श्लोक या हिन्दी कविता को रखा जाता ? यही दशा १९६२ के संस्करण में स्वर्गत स्वामी सर्वदानन्द जी के चित्र के पीछे छपे श्लोकों की है।

इन श्लोकों से वेदसार में कोई विशेषता तो आई नहीं। पाठक यह अवश्य जान गए, कि वेद मंत्रों के पाठ को शुद्ध करने का दावा भरने वाले संपादक महोदय की अपनी रचना कैसी है ?

अब पाठक प्रस्तावना की पीछे उद्धृत की गई पंक्तियों की यथार्थता को देख लेने की कृपा करें, कि वेद में कहां पाठ टूटा

हुआ है ? वह पाठ टटा हुआ कैसे प्रतीत हुआ ? पाठपूर्ति का सुझावमात्र किस २ स्थान पर कोष्ठक में है, इत्यादि।

ऐसी पुस्तकों का छपना भी राष्ट्रीय निधि का अपव्यय ही है। इस पर भी क्या ऐसी पुस्तक पाठ्य बन सकती है ? पाठ्य पुस्तक में तो एक भी अशुद्धि क्षम्य नहीं होती। अशुद्ध पुस्तक को तुरन्त हटा दिया जाता है। संबद्ध अधिकारी तथा सदस्य महोदयों को इस ओर ध्यान देना चाहिए और तुरन्त वेदसार (संस्करण १९५१ तथा १९६२) को परीक्षा से हटा कर पुराना पाठ्य क्रम चालू करना चाहिए।

११-वेदसार और तुलनात्मक अध्ययन :—

वेदसार में तुलनात्मक दृष्टि या ढंग से अध्ययन या ग्रहण कराने की बात प्रस्तावना पृष्ठ ६ पंक्ति १५ तथा पृष्ठ १० पंक्ति ८ में दो बार कही गई है। पहले स्थान पर वेदवार सूची को तुलनात्मक अध्ययन में उपयोगी बताया गया है और दूसरी बार व्याकरण के अध्ययन को तुलनात्मक ढंग से ग्रहण कराने की बात कही है। प्रश्न यह होता है, कि जब प्रत्येक पृष्ठ में मन्त्रक्रम से पाठ तथा अनुवाद के नीचे सभी मन्त्रों के साथ पूरे पते वहीं उपलब्ध हो जाते हैं, तो पाठक उस सूची के अंकों में क्यों सिरदर्दी करेगा ? वह अंक जो उसे सूची में उपलब्ध होंगे, वही तो पहले प्रत्येक पृष्ठ के नीचे पाठक ने देख लिए। अब उस सूची में नवीनता ही क्या रह गई ? जिसे पाने से तुलना होगी।

दूसरी बार व्याकरण के विषय में जो कुछ कहा गया है, वह बिलकुल निराधार तथा अनुपयुक्त है। इस पर कुछ विवेचन 'वेद तथा व्याकरणादि' (१म पीठ सप्तमाधिकरण पृष्ठ २५ से ३२ में) सामान्य रूप से किया जा चुका है।

इसके अतिरिक्त तुलना के लिए पाठक जानना चाहता है, कि मन्त्र का ऋषि कौन है? ऋषि ने किन परिस्थितियों में इस मन्त्र या सूक्त का दर्शन किया ? ऋषि को क्या फल मिला आदि ? मन्त्र का छन्दस् क्या है ? इस छन्दस् में यह रचना क्यों हुई ? अन्य छन्दस् का प्रयोग क्यों नहीं किया गया ? इस मन्त्र का देवता क्या है ? देवता का मन्त्रके साथ क्या सम्बन्ध है ? देवता-विशेष का क्या महत्त्व और स्वरूप है ? आज के वैज्ञानिक युग में हम इस देवता ऋषि या छन्दस् से क्या पा सकते हैं ? मन्त्रों के साथ इन तीनों का सम्बन्ध क्यों है? लौकिक कवियों को ऋषि क्यों नहीं कहा जाता ? इत्यादि, इत्यादि। इस मन्त्र का क्या विनियोग है ? अन्यत्र कहां २ किस २ वेद में ऐसा पाठ है ? इस पाठ में कहां कुछ भेद है और कहां समानता है ? इस प्रकार के भेद और समानता के क्या कारण हैं ? मन्त्र समानश्रुति होने पर भी किसी दूसरी शाखा में भिन्न पाठ वाला क्यों हो जाता है ? भाष्यकार इन मन्त्रों के विषय में विभिन्न स्थलों में क्या कहते हैं ? वह ऐसा क्यों कहते हैं ? भाष्यकारों की क्या युक्तियां हैं ?इन युक्तियों या हेतुओं में कौन सी युक्तियां ठीक हैं या हेत्वाभास हैं ? इत्यादि। भाषा-विज्ञान की दृष्टि से मन्त्र के पद कैसे हैं ? किन २ भाषाओं से इस मन्त्र का मेल है ? इत्यादि—सैंकड़ों प्रश्न हैं, जिन

पर विचार किए विना वेदाध्ययन को किसी पुस्तक को न तो महत्त्व ही दिया जाना चाहिए और न ही पाठ्यक्रम में रखना चाहिए।

तुलना के प्रकरण में ही छन्दस् आदि का महत्त्व बताने वाले प्रसिद्ध वचन उद्धृत कर देना भी आवश्यक है, क्यों कि कुछ लोगों की इस विषय में बहुत जिज्ञासा है, वचन यह हैं—

"अविदित्वा ऋषिं छन्दो दैवतं योगमेव च।
यो ऽध्यापयेज्जपेद्वाऽपि पापीयाञ्जायते तु सः॥
ऋषिछन्दोदैवतानि ब्राह्मणार्थं स्वराद्यपि।
अविदित्वा प्रयुञ्जानो मन्त्रकण्टक उच्यते॥"

सर्वानुक्रमसूत्र में कहा है—

"एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते, जपति, जुहोति, यजते, याजयते, तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातयामं भवत्यथान्तरा श्वगर्तं वा पद्यते, स्थाणुं वर्च्छति, प्र वा मीयते, पापीयान् भवति"—

दोनों उदाहरणों में ऋषि, छन्द, देवता—विनियोग के ज्ञान की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है और इनके न जानने के दोष बताए हैं। इससे आगे जानने के फल तथा गुण वर्णन किए हैं। तथा च—

"स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं योगार्षमेव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥

यह श्लोक पीछे (पृष्ठ २३ पर) दिया ही जा चुका है। ऋषि छन्दस् आदि पुस्तक में न देना और वेदसार के कर्ता या रचियता बनना तो व्यक्त करता है, कि संपादक महोदय अपने आप को ही ऋषि ख्यापित करना चाहते हैं, (देखें-पुष्पिका

में दी गई हिन्दी कविता तथा विश्व ज्योति मार्च १९६३ पृष्ठ VIII परिवार अङ्क में प्रकाशित विज्ञापन)।

वेदसार पृष्ठ १४६-४७ पर छन्दः परिचय कुछ २ मिलता है, वह भी अपूर्ण है। वेदसार में प्रयुक्त सभी छन्दों का संग्रह उस में नहीं है। मोटे रूप में मन्त्र ११६ तथा २१२ उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किए जा सकते हैं। यदि 'पुर-उष्णिक्' छन्दस् का परिचय होता ? तो मन्त्र ११६ में गड़-बड़ न होती। और यदि 'त्र्यवसाना षट्पदा जगती' का परिचय होता, तो मंत्र २१२ में कोई गड़बड़ न होती। इस से यह भी कहा जा सकता है—कि ऐसी गड़बड़ को छिपाने के लिए ही पाठकों को छन्द-परिचय पूर्ण रूप से नहीं दिया गया। यदि छन्द-परिचय दिया गया होता, तो अक्षरवृद्धि आदि वाले उदाहरण भी वच जाते। देखिए स्वामी दयानन्द सरस्वती ने तो उदात्तादि स्वरों के साथ षड्जादि स्वर भी दिए हैं और वेदिक मंत्रों में अलंकार भी प्रति-मंत्र में दिखाए हैं। वाह रे वेद प्रेम! यदि उन के युग में उन्हें वैदिक भावना वाले विद्वान् मिल पाते, तो आज उन्हीं का वेद भाष्य प्रमाण बन जाता। खेद है कि उनके पास इतना समय नहीं था, जिस कारण उन्होंने कुछ पण्डितों के सिपुर्द यह काम किया और वह पण्डित उस काम को पूरा नहीं निभा पाये। (देखें-शताब्दी संस्करण के प्रथम भाग में भूमिका पृष्ठ १६ से १८ तक छपे हुए स्वामी जी के पत्र।)

देश विदेश में ख्याति प्राप्त विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान से वेदसार प्रकाशित हुआ है और संपादक तथा अधि-

संपादक हैं त्यागी तपस्वी विद्वान् श्री विश्वबन्धु जी। वहां से तुलनात्मक अध्ययन न मिले, यह आशा कदापि नहीं की जाती। अनुमान यह होता हैं, कि श्री विश्वबन्धु जी ने इस के संपादन का काम जिस के जिम्मे डाला, उसने पूरी जिम्मेवारी नहीं निभाई और दो बार तुलनात्मक शब्द लिखकर ही अपना काम चला लिया।

१२-वेदसार और पदपाठः--

यास्क ने कहा है "पदप्रकृतिः संहिता" "पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि"।

इस वाक्य में दोनों प्रकार के समास किए जाते हैं, दोनों प्रकार से अर्थ बनता हैं, पद संहिता की प्रकृति और संहिता पद की प्रकृति। पद पाठ के आधार पर क्रमपाठ बनता है, इस कारण भी पदपाठ प्रकृति बन जाता है। क्रमपाठ के आधार पर ही जटादि आठों विकृतियों का क्रम चलता है। वेदसार पृष्ठ१४५ पर (झ) भाग में पदपाठ का परिचय मात्र करा दिया है, परन्तु इस से पूरा ज्ञान नहीं होता। जैसे मन्त्र १६ में 'शमु' में 'उ' है, इसका ऋग्वेद में पदपाठ होगा 'ऊम् इति', शु. यजुर्वेद में यही पद होने पर 'ऊमित्यूम्' पदपाठ होगा। वेदसार में चारों वेदों से मन्त्रों का संग्रह है। इससे छात्रों पर यह भार भी पड़ गया, कि वह चारों वेदों के पदपाठ को भी याद करें और उस में कौन से मन्त्र में कौन सी प्रक्रिया चलानी है, यह भी जानें।

उनके लिए जानने की यह नवीन समस्या भी बन गई। वेदों से कतिपय सूक्त निर्दिष्ट होने पर तो वह पदपाठ-प्रक्रिया को स्पष्ट ही समझ जाते। परन्तु मन्त्रों के इस सम्मिश्रण में उन के लिए चारों वेदों की भिन्न प्रक्रिया की जानकारी की कठिनता भी आ गई। हो सकता है, विश्वविद्यालय पदपाठ को ही परीक्षा से हटा देवे ? (जैसे १९६३ की विश्वविद्यालय की परीक्षा में पदपाठ नहीं पूछा गया)। परन्तु ऐसा करने से छात्रों को वेद का ज्ञान पूर्ण न होगा। पदपाठ न होने से समस्त, असमस्त, प्रगृह्यादि विशिष्ट पदों का पता भी नहीं चलता और अर्थ में भी खींच तान चल पड़ती है। (प्रातिशाख्यकारों ने पदपाठ को प्रतृण्णसंहिता और संहिता पाठ को निर्भुजसंहिता नाम दिए हैं)। पदों के पृथक् करने में भी बहुत विचार प्राचीन आचार्यो ने किया है। निरुक्तादि में ऐसे बहुत से उदाहरण मिलने हैं, जहां पर पदकारों में मतभेद मिलता है, जैसे "वायो" पद में "वा यः" और "वायो" पदपाठ वाली चर्चा है। अतः उस प्राचीन परिनिष्ठित विचारों से परिपूर्ण पद्धति को अक्षुण्ण बनाए रखनें के लिए पदपाठ का होना परमावश्यक है।

इन्हीं कारणों से जहां कहीं भी विश्वविद्यालयों की परीक्षा में वेद है, वहां पर कम से कम दस नम्बर का पदपाठ पूछा ही जाता है। जिस में पदपाठ से संहितापाठ तथा संहिता पाठ से पदपाठ करना होता है। पञ्जाब विश्वविद्यालय में भी परीक्षक बाहर के होते हैं। यदि वह पदपाठ पूछेंगे और छात्र घपला करेंगे, तब छात्रों को अंक ही कैसे मिलेंगे ? स्वामी दयानन्द जी के भाष्यों के साथ ही पदपाठ छपा

है। पाश्चात्य विद्वान् भी साथ ही पदपाठ देते हैं (देखें— पोटर्सन तथा मैकडानल आदि के संग्रह) पदपाठ वेदार्थ ज्ञान में परमावश्यक है, अत एव इस संग्रह में भी उसका होना परम आवश्यक है।

१३-वेदसार की अर्थ पद्धति और शीर्षकः--

वेदसार प्रस्तावना पृष्ठ ७ तथा ८ में अनुवाद का आदर्श इन शब्दों में प्रदर्शित किया गया है:—"हमारे अनुवाद का लक्ष्य सरल, समन्वित शब्दार्थ मात्र देना है। अपनी ओर से कहीं-कहीं थोड़े से शब्द जोड़ने पड़े हैं, ताकि केवल मूल-वाक्य के अनुसार अर्थ स्पष्ट हो सके। भाव यह है, कि यदि कोई पाठक केवल अनुवाद भी पढ़े, तो उस में मूल-ग्रन्थ जैसा रस प्रतीत होना चाहिए। जब कोई अनुवाद शब्दों के पदार्थ से बहुत दूर चला जाता है, तो वह छायार्थ या भावार्थ हो कर व्याख्या का कार्य भले ही कर सके, परन्तु वह अनुवाद नहीं कहा जा सकता। उस से पाठकों को ऐसे लगता है, कि अनुवादक अपनी मनमानी बातों को यूं ही मूलपाठ के माथे मढ़ रहा है। इसलिए हमने मूल शब्दों से जोड़ खाने वाले अर्थों को ही सरल प्रकार से रखने मात्र का प्रयत्न किया है।"

यह कितना सुन्दर तथा उच्च आदर्श है। यदि अनुवाद में यह पूरा उतर पाता? तो शायद यह हिन्दी ही वेद मन्त्रों की भांति आदर पा जाती? कोई भी सामान्य पाठक

यह शब्द पढ़कर तथा विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की प्रतिष्ठा और उस के संचालक महोदय की तपस्या तथा त्याग पर ध्यान देते हुए इन शब्दों पर तनिक भी संदेह नहीं कर सकता। परन्तु जब अन्दर पैठ कर देखें, तो यह आदर्श एक ओर रह जाता है और अनुवाद दूसरी किसी ओर चल पड़ता है। यदि इस पूरे अनुवाद को विचार का विषय बनाया जावे, तो लेख लगभग सात सौ पृष्ठों में भी समाप्त नहीं होगा। यह कह सकते है, कि वेदसार में प्रायः सरल मन्त्रों का संग्रह है, उन में भी अतिसरल मन्त्रों का अनुवाद अवश्य ठीक है। परन्तु अधिक संख्या में मन्त्रों का अनुवाद स्वच्छन्दगामी है। पाठकों ने पीछे 'प्रतिष्ठा' शब्द के विषय में देख हो लिया, कि कितने प्रसिद्ध शब्द का अनुवाद 'दृढ़ता' कर के पूरे मन्त्र की क्या फजीहत हो गई ? हिन्दी में संस्कृत के तत्सम शब्द भी प्रयुक्त होते ही हैं। अतः 'प्रतिष्ठा' का पर्याय ढूंढने की आवश्यता ही न थी। इसी मन्त्र में 'ऊरु' के लिए 'रानों' शब्द रखा है, यह शब्द फारसी का हैं और जांघ का वाचक है। अतः यहां पर भी 'ऊरु' शब्द का हो रखना उचित है।

अब एक और सरल तथा प्रसिद्ध मन्त्र के अनुवाद का नमूना भी पाठक देख लेवें। पृष्ठ २४ पर मन्त्र ४४ यों है—

"४४. अनमित्रं नो अधराद्, अनमित्रं न उत्तरात्।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चाद्, अनमित्रं पुरस्कृधि॥"

(पाठक देखें—कि अनुवाद पृष्ठ २५ में शीर्षक की संख्या भी १० से ९ हो गई है)।

अनुवाद है —"४४· हे इन्द्र । नीचे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। ऊपर से हमें शत्रुता से मुक्त करो। पीछे से हमें शत्रुता से मुक्त करो। आगे से हमें शत्रुता से मुक्त करो।"

अब देखें मन्त्र में शब्द है—"अनमित्र"=अमित्र का अभाव अर्थात् मित्र। संस्कृत में नियम है—

"द्वौ नञौ दाढ्र्यबोधकौ"

दो बार न कहने पर उसी की दृढता होती है। यही नियम अन्य भाषाओं में भी है —"Double negative makes positive"। इस प्रकार "अनमित्रम्" का अर्थ होगा मित्रता। अब 'अधर' आदि शब्दों को लेवें, इन का अर्थ सायण ने दक्षिणादि दिशाएं किया है। उत्तर शब्द को देख कर चारों दिशाएं खींच कर लाने से यहां पर सायण भी ठीक नहीं है, क्यों कि उत्तर शब्द उत्, उत्तर,उत्तम से लिया गया है, यह सापेक्ष= Comperative degree है। इस सूक्त के यह मन्त्र ग्रामादि के अभय में, सेना के भय की निवृत्ति में, उपाकर्म में तथा गोदानाख्य संस्कार में विनियुक्त हैं। पिछले (४३) मन्त्र (अथर्व ६, ४०, २) में कहा है—

"अशत्रिवन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभियातु मन्युः।"

अर्थात् शत्रुरहित इन्द्र हमें अभय करे और राजाओं का मन्यु अन्यत्र जावे।

इस भाव का वेदसार में भी इससे मिलता जुलता अर्थ ही है। परन्तु ४४ मन्त्र (अथर्व ६, ४०, ३,) में शीर्षक

बदल दिया गया. अतः इस में नवीन शोर्षक के अनुसार ही शत्रुता से मुक्त करने की भावना भी जागृत हो पड़ा। फिर शत्रु शब्द का वैदिक संस्कृत में अर्थ है— शातन=मार देना। अतः यहां पर "शत्रुता से मुक्त करो" यह अर्थ तो बनता ही नहीं। इस मन्त्र से जो संस्कार हो रहे हैं, उन में प्रजा ने "सविता को ऊर्ज सुभूत" (=प्रेरक को प्राणधारियों के लिए हितकारी कृषि, आदि) में लगाया और राजा (इन्द्र) को शत्रमुक्त घोषित कर दिया। अब यदि राजा (इन्द्र) शत्रुओं पर किए जाने वाले मन्यु को लेकर ही प्रजा की लूट पाट शुरू कर देवे, तो प्रजाएं कैसे रहेंगी ? कहां संस्कार करेंगी ? इस कारण पहले मन्त्र में 'कृ' धातु का 'श्नु' विकरण से प्रयोग हुआ, 'करोतु' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ। यद्यपि दोनों प्रयोग वेद में मिलते हैं और दोनों में छन्द का अन्तर भी नहीं है। अब प्रजा अधर=छोटे जनों से और उत्तर=उत्कृष्ट जनों से, पश्चात्=परोक्ष में तथा पुरः=सामने, सब प्रकार से मित्रता की कामना कर रही है, न कि ऊपर या नीचे से शत्रुता से मुक्त करने की। ऊपर, नीचे, आगे या पोछे कौन सी शत्रुता है, जिस से मुक्त होना अभिप्रेत है ? मन्त्रों पर मनन करने की आवश्यकता है ? मनन के विना मन्त्र कभी अपना अर्थ स्पष्ट नहीं करते। एक स्थान पर इस मन्त्र पर चर्चा हुई, तो एक सज्जन कहने लगे--कि, यहां पर ऊपर की शत्रुता से अभिप्राय हैं—कौओं आदि की शत्रुता और नीचे की शत्रुता से अभिप्राय है—चींटियों आदि की शत्रुता, इसी प्रकार पीछे की शत्रुता कुत्तों आदि की है और सामने की शत्रुता सांपों आदि की। यह सुनकर दूसरे सज्जन

हंस पड़े और कहने लगे, वाह ! क्या कमाल का अर्थ है ? निराली कल्पना है ? अनोखी सूझ है ? पुरस्कार मिलना चाहिए। ऐसी ही दशा (मन्त्र ४० आदि) इसी प्रकार के अन्य मंत्रों में अर्थ की है । अपने ग्रन्थ की स्वयं प्रशंसा करने में कुछ भी मूल्य नहीं लगता । सफलता तो तब होती हैं, जब कसौटी पर (ग्रन्थ) पूरा उतरे ।

अब पाठक अन्य नमूना भी देख लेने की कृपा करें । पृष्ठ ४४ पर मन्त्र ८७ तथा ८८ के दूसरे पादों में "उपतप्यामहे तपः" पाठ है । इस का ८७ मन्त्र में अर्थ है—"तीव्र तप करेंगे," और ८८ मंत्र में अर्थ है—"हम खूब तप तपते रहें ।" दोनों अर्थों में भविष्यत् काल तथा प्रार्थना अर्थ वाला भेद कैसे हो गया ? इसमें अनुवाद का वह ऊपरी आदर्श कहां गया ? इसी प्रकार मन्त्र २२, २३, २४ और २६ में 'हे जलो' संबोधन भी विचित्र हिन्दी का नमूना है । इसी प्रकार (पृष्ठ ९ पर) १२ मन्त्र के अनुवाद में "उसी रथ पर हम भी चढा चाहें और परम सुखलाभ किया चाहें ।" इस विचित्र भाषा का प्रयोग वैरागी बाबाओं की सधुक्कडी हिन्दी का ही स्मरण दिलाता है ।

हमारा ही अर्थ में मतभेद हो, केवल यह बात ही नहीं है । पाठक वहीं की विश्वज्योति जनवरी १९६३ में ५, १२१, १२२ तथा २१६ मन्त्रों के, तथा फरवरी १९६३ की विश्वज्योति में प्रकाशित ५७, १०९ तथा ११४ मंत्रों के अर्थ मिला कर पढ लेवें और देखें, कि वहीं पर अपने ही अर्थों में कैसा अन्तर है ? विश्वज्योति में यह वेदामृत है और यहां पर वेदसार ।

शायद अमृत और सार का अन्तर ही इन अर्थों के अन्तर का कारण बन गया हो ?

अब संक्षेप में कुछ आरम्भिक मंत्रों की बात कह देते हैं। विस्तार से तो विस्तार होगा और जलताड़न की भांति वृथाप्रयास और छापे में भी अधिक खर्च। पहले यहां सामान्य परिचय के लिए पाठकों को प्रथम मन्त्र का विविध भाष्यकारों का व्याख्यान निर्दिष्ट कर देते हैं। तब पाठक वेदसारीय अनुवाद तथा व्याकरण के टिप्पण पढ़ लेवें। इसे देख लेने पर पाठक जान जावेंगे, कि वेदसार के सात और आठ पृष्ठों में जो कुछ प्रस्तावना में कहा गया है, वह कहां तक यथार्थ है ? उसका कहां तक अनुपालन किया गया है ? आगे "आ नो भद्रा:" ऋक् १, ८९, १; प्रथम मन्त्र पर कुछ भाष्य उद्धृत किए जाते हैं—

वेङ्कटभाष्य (डा. लक्ष्मणस्वरूप संस्करण, पृष्ठ ४३६) आयन्तु, अस्मान्, सर्वत.। भजनीयानि, कर्माणि, १ असुरैरहिंसितानि, २ अपरिवृतानि च, ३ फलोद्भेदनानि, देवा:, यथा, अस्माकम्, सदा एव, वर्धनाय, स्यु:, ४ अप्रगच्छन्त:, रक्षितारश्च, अहन्यहनि।

स्कन्द भाष्य (पूर्वोक्त संस्करण, वही पृष्ठ)—क्रतवो यज्ञा:। स्वत:सन्बन्धिनश्चात्मन:सम्बन्धिनां च पुत्रादीनास्माकं यज्ञा उपनयन्त्वित्यर्थ:। इसपर १ से ४ टिप्पण-१ यज्ञविध्वंसिभी रक्ष आदिभिरविगुणा इत्यर्थ:। २ अन्यैरप्राप्तपूर्वा इत्यर्थः। ३--उद्भिन्नामैकाह:, तत्प्रभृतय:। अथवा-उद्भिन्दन्ति फलानीति-उद्भिद:, जनयितार: फलानामित्यर्थ:। ४—अप्रमोषितार आयुष:। जीवितस्य चानपहर्तार:, इत्यर्थ:। अथवा प्रायुव इति अयते-

गतिकर्मण इदं रूपम्। अप्रगन्तारः -नित्यसन्निहिता इत्यर्थः। अथवा प्रायुव इति यौते रूपम्। अन्यैरर्थैरप्रश्रिता बुद्धिर्येषां तेऽप्रायुवः। अनाक्षिप्तचेतस्का इत्यर्थः।

सायणभाष्य (वैदिक शोधनमण्डल पूना, पृष्ठ ५४६) मन्त्र का विनियोग —"आ नो भद्राः' इति दशर्चं पञ्चमं सूक्तम्। गौतमस्यार्षं वैश्वदेवम्। आदितः पञ्चर्चः सप्तमी च जगत्यः, षष्ठी "स्वस्ति न इन्द्रः" इत्येषा विराट्स्थाना। "नवकौ वैराजस्त्रैष्टुभश्च" (अनु. ९, ५) इत्युक्तलक्षणयोगात्। अष्टम्याद्यास्तिस्रास्त्रिष्टुभः तथा चानुक्रान्तम्—"आ नो दश वैश्वदेवं तु, पञ्चाद्याः सप्तमी च जगत्यः षष्ठी विराट्स्थाना," इति। अग्निष्टोमे वैश्वदेवशस्त्रे उत्तमावर्जमेतत्सूक्तं वैश्वदेवनिविद्धानीयम्. सा तु प्रकृतौ विकृतौ च वैश्वदेवशस्त्रस्य परिधानीया। तथा च सूत्रितम्—

"आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वत' इति नव वैश्वदेवम" इति, "अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमिति परिदध्यात्सर्वत्र वैश्वदेवे" (आश्व. श्रौ. ५,१८) इति च। ब्राह्मणं च भवति—

"सदैव पञ्चजनीयया परिदध्यात्" (ऐ.ब्रा. ३.३१) इति।

महाव्रते निष्केवल्ये एतत्सूक्तम्। तथा च पञ्चमारण्यके सूत्र्यते - "आ नो भद्रीयं च तस्य स्थाने" (ऐ. आ.५.३,२) इति।

(मन्त्रपाठ तथा पदपाठ) मन्त्रार्थ— नः=अस्मान्। क्रतवः=अग्निष्टोमादयो महायज्ञाः, विश्वतः=सर्वस्मादपि दिग्भागात, आ यन्तु=आगच्छन्तु। कीदृशाः

ऋतवः ? भद्राः=समीचीनफलसाधनत्वेन कल्याणाः, भजनीया वा । अदब्धासः=असुरैरहिंसिताः । अपरीतासः=शत्रुभिरपरिगताः, अप्रतिरुद्धा इत्यर्थः । उद्भिदः=शत्रूणामुद्भेत्तारः। ईदृशाः ऋतवोऽस्मांस्तथा आगच्छन्तु । अप्रायुवः=अप्रगच्छन्तः स्वकीयं रक्षितव्यमपरित्यजन्तः । अत एव, दिवेदिवे=प्रतिदिवसम्, रक्षितारः=रक्षां कुर्वन्तः, एवंगुणैर्विशिष्टाः सर्वे देवाः, नः=अस्माकम्, सदमित्=सदैव, वृधे=वर्धनाय, यथा असन्=भवेयुः, तथा आगच्छन्तु, इति सम्बन्धः ।। (व्याकरणप्रक्रिया-) अदब्धासः "दम्भु दम्भे", दम्भो हिंसा, निष्ठायां "यस्य विभाषा" इति इट्प्रतिषेधः, नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । अपरीतासः—"इण् गतौ" । पूर्ववत् कर्मणि निष्ठा । उभयत्र "आज्जसेरसुक् ।" वृधे "वृध वृद्धौ" संपदादिलक्षणो भावे क्विप् । "सावेकाचः" इति विभक्तेरुदात्तत्वम् । असन्—"अस भुवि", लेटि अडागमः । "बहुलं छन्दसि" इति शपो लुगभावः । तस्य अङित्त्वात् "श्नसोरल्लोपः" इति अकारलोपाभावः । अप्रायुवः—"इण् गतौ" अस्मात् प्रपूर्वात् "छन्दसीण" इति उणप्रत्ययः । नञ्समासे अव्ययपूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम् । जसि "जसादिषु छन्दसि वा वचनम्" इति गुणस्य विकल्पितत्वादभावे तन्वादित्वाद् उवङ् ।।

यह मन्त्र यजुर्वेद मा॰ २५, १४, का २७, ११, १ तथा काठक २६, ११॰ में है माध्यन्दिन संहिता पर महीधर उव्वट तथा दयानन्द भाष्य हैं। इन्हें यथास्थान देख लेवें। काण्व संहिता पर सायण भाष्य है, परन्तु वह इस स्थल पर उपलब्ध नहीं है।

Ralph T. H. Griffith ने इस का अनुवाद ऋग्वेद १, ९९, १ तथा यजुर्वेद २५. १४ में यह किया है—

(Vishvedevas)--"May power (Powers, in yajuh) auspicious come to us from every side, never decieved, unhindered and Victorious. That the Gods (ever) may be with us for our gain, our guardians day by day unceasing in their care.

(यजुर्वेद के अनुवाद में Power के स्थान पर Powers है और Ever अधिक है, जिसे यहां कोष्ठक में रख दिया गया है।)

अब वेदसार का अनुवाद पृष्ट ५ पर तथा व्याकरणादि यथानिर्दिष्ट पृष्ठों पर पाठक देख लेवें—

"१. देवप्रीति—हमें सब ओर से भली भावनाएं मिलें। उनमें धोखा न हो। बाधा न हो। उन में उन्नति ही उन्नति हो। उन से देवता तुष्ट होकर दिन-दिन हमारी रक्षा करें, वृद्धि करें, हमारा सदा साथ दें"॥

इस मन्त्र पर परिशिष्ट (२) में वर्णक्रमानुसार यह विवरण प्रस्तुत किए गए हैं—

पृष्ठ १६४—भद्रम्, भद्रा, भद्राः [१-३], भद्र-वि., नाप. (भला, [तु. शब्रा. यद् वै पुरुषस्य वित्तं तद् भद्रम्, गृहा भद्रम्, प्रजा भद्रम् पशवो भद्रम्, इति]), <√ भद्, न्द् 'कल्याणे, सुखे'।

पृष्ठ १५८-क्रतवः [१] —क्रतु— भा. (विश्वास,) <√ ※क्रत् ‘ श्रद्धायाम् ’ प्र ३ ।

पृष्ठ १५१-अदब्धासः [१]—अदब्ध—, वि. (क्रतु) < अ (न)+(√ दभ्‘दम्भे’>) दब्ध, तस. । धोखा से रहित ।

पृष्ठ १५२-अपरीतासः [१]—अपरीत—, वि. (अबाधित —[क्रतु—]), <अ (न)+(परि [=प्रति]+√इ ‘गतौ’ >) परीत—,तस., प्र ३ ।

पृष्ठ १५६—उद्भिदः [१]—उद्—भिद्—, वि. (उन्नति-कारक[क्रतु]), <उद्+√भिद् ※विकासे, प्र ३ ।

पृष्ठ १७०-सदम् इत् [१]—अव्य.(सदैव) । प्रायः ‘इत्’ के साथ प्रयुक्त होता है।

पृष्ठ १६९-वृधे [१]—वृध्—भा. (वृद्धि), <√ वृध ‘वृद्धौ’ च १ ।

पृष्ठ १५५-असत् [१]—क्रि॰ (हों), < √ अस् ‘भुवि’ लेट् प्र ३ ।

पृष्ठ १५३-अप्रायुवः [१]—अ-प्रायु, वि. (देव-) < अ (न) +(अप—राध) > ※अपराध् > [वावि॰]※प्रायू—, तस. प्र ३ । अपराध रहित ।

पृष्ठ १६०-दिवेदिवे [१]—दिवस—, >दिवसे>(वीप्सार्थे) दिवसे—दिवसे>(वावि.) च १, यनि !”

ऊपर उद्धृत अनुवाद में भी पूर्ववत् वेद की वेदता की ओर ध्यान नहीं रखा गया है और न ही परिशिष्ट में दिए गए विवरणों में कोई प्रामाणिक बात कही गई है।

केवल, 'भद्र' शब्द पर तुलनीय शब्रा=शतपथब्राह्मण लिखा है। परन्तु यह वचन वैदिकपदानुक्रमकोष में दिए गए शतपथ-ब्राह्मण के स्थलों में नहीं है। प्रत्युत यह वचन शाट्यायन शाखा ग्रन्थ का है। इसका उद्धरण सायण भाष्य में ऋक् १,१,६ पर उपलब्ध है। वहा पर यह शब्द फलितार्थ के प्रतिपादन में ही उद्धृत है, वाच्यार्थ में नहीं। अत: इस प्रकरण में उद्धृत इस वचन से भी 'भद्र' का भला अर्थ उपपन्न नहीं होता। इसी प्रकार 'ऋतु' शब्द का भावनाएं अर्थ करना और उसे "ऋत्" काल्पनिक धातु से निष्पन्न करना भी सगत नहीं है। "ऋत्" का श्रद्धा अर्थ भी काल्पनिक ही है। इस धातु से निष्पन्न करने पर भी 'ऋतु' शब्द का अर्थ श्रद्धायुक्त या ऐसा ही कुछ बनेगा ? भावनाए नहीं, आगे 'अदब्धास:' को "दभ दम्भे" से निष्पन्न करने पर भी धोखा से रहित अर्थ संगत नहीं है। "अपरीतास:" का अबाधित अर्थ करना भी युक्त नहीं है। 'परीत' शब्द का अर्थ होगा—परि√इ+त= परीत=परिगत और नञ्समास करने पर अपरिगत अर्थात् असीम या सीमातिक्रान्त। फिर 'परि' को प्रति के स्थान पर मानने से प्रतीत=विश्वस्त अर्थ बन जावेगा। "उद्भिद:" शब्द का उद्भेदन क्रिया से सम्बन्ध हो सकता है, इसका अर्थ उन्नति या उन्नतिकारक नहीं बन पाएगा। 'अप्रायुव:' में अप√राध् की कल्पना तो अर्थ को पूर्णत: उलट ही बना देती है। यह पद देवता का विशेषण है। देवताओं में भी अपराध की कल्पना या उसके अभाव की स्थिति एक विचित्र बात ही है। सत् का ही अभाव होता है, असत् तो स्वयं ही अभाव है। यदि देवता भी अपराध युक्त हैं ? और वे अपराध रहित होकर हमारी रक्षा करने के लिए आवें--ऐसी

प्रार्थना करनी है ? तो फिर यह प्रार्थना ही व्यर्थ है। देवता भी अपराध करते हैं, हम भी अपराध करते हैं। दोनों में अन्तर ही क्या रहा ? यास्क ने निरु. ४, ३, १९. में "अप्रायुवः" का अर्थ "अप्रमाद्यन्तः" कहा है, जिस में प्रमादराहित्य की कल्पना है, जो कि देवताओं में सम्भव है। परन्तु उनमें अपराध तो कल्पना से भी बाहर है।

वेदसार में पहला शीर्षक देवप्रीति है, दस मन्त्रों के इस सूक्त में से केवल पहला और दूसरा मन्त्र ही देवप्रीति के लिए उपयुक्त सिद्ध हुए हैं। सूक्त में शेष मन्त्र शायद वैसे ही भर दिए गए थे ? इस सूक्त को 'अनारभ्याधीत' मन्त्रों में पढ़ा गया है। यज्ञ का आरम्भ जब होता है, तो इस सूक्त का पाठ किया जाता हैं। इस प्रकार केवल इन दो मन्त्रों का ही देवप्रीति से सम्बन्ध कथमपि युक्त नहीं है। 'प्रथमे ग्रासे मक्षिकापातः' की उक्ति को चरितार्थ करता हुआ यह पहला शीर्षक भी तो ठीक नहीं ? अब कुछ अगले मन्त्रों के विषय में पाठक ध्यानपूर्वक देख लेवें।

दूसरे मन्त्र के अनुवाद में धारणा कहां से आ टपकी ? देवताओं के दान का मुख कहां से आ गया ? (जिस का मुख है, उस के हाथ पैर आदि कहां गए ?) क्या दान का मुख होता हैं ? इसी प्रकार शेष वाक्यों की भी दशा है।

तीसरे मन्त्र में शीर्षक बदल गया। मन्त्र पीछे वाले सूक्त से ही बीच के कुछ मन्त्रों को छोड़कर लिए हैं, इस मन्त्र में 'यजत्राः' का अर्थ 'पूजनीयो' कैसे हो गया ? 'तुष्टुवांसः'

में क्वसु का और 'व्यशेम' में विधिलिङ् का अर्थ कहां चला गया ?

चौथे मन्त्र में 'हमारा जीवन इसी प्रकार चले' यह कहां से आ टपका ? इसी मन्त्र में हिंसार्थक 'रिष' धातु के 'रीरिषत' प्रयोग में टूट मत जावे।' यह अर्थ कैसे आ गया ? मध्यम पुरुष कहां गया ?

पांचवें मन्त्र में 'मा वधीत्' एक ही क्रिया है। इस क्रिया-पद के 'इसे काट न दें' ...'इसे मिटा न दे' यह दो अर्थ कैसे हो गए ? दोनों का ही लुङ् से मेल क्यों नहीं ? विधि या प्रार्थना कहां से आई ?

छठे मन्त्र में यहां पर शीर्षक बदल गया है और भक्ति की जोत पता नहीं कहां से आ गई ? मन्त्र के पदों में तो मनु द्वारा समिद्ध=भभकती हुई अग्नि का वर्णन है, वह लघु रूप धारण करके जोत कैसे बन गई ? फिर यहां पर यह भी आ गया, कि "हमारे हृदय भी भक्ति से भर रहे हैं ?" यह ऊपर से ठोंसी गई बात न तो अर्थ को स्पष्ट करती है और न ही पदों के अर्थ से व्यक्त होती है। पूरे मन्त्र का अर्थ भी गढन्त ही बन रहा है।

सातवें मन्त्र में प्रचेतसः' का अर्थ 'ज्ञान तथा विचार के स्रोत' कैसे बन गया ? पृष्ठ १६३ पर परिशिष्ट (२) में तो इस पद का अर्थ प्रकृष्टज्ञानवान् है और इसे आदित्य का विशेषण कहा गया है। यहां पर स्रोत का भाव कहां से आया ? इसी प्रकार 'मन्तवः' का अर्थ 'मालिक' कैसे बन गया ?

पृष्ठ १६५ परिशिष्ट (२) में इसे आदित्य का विशेषण कहा गया? यह किस कोष के अनुसार है? 'तभी हमारा जीवन सफल होगा, यह भाव कहां से आया? ऐसी चिन्ता कैसे पड़ गई। मन्त्र तो कह रहा है—कि, हे देवताओ, हमारे किए या न किए पापों की (कमी को) आज कल्याण के लिए पूर्ण कर दो।

आठवें मंत्र में किश्ती (नौका) का वर्णन है। इस से पूर्व के मन्त्र "भरेष्विन्द्रम्" ऋ १०, ६३, ७ को छोड देने से यह किश्ती खेने वाले देवों (मल्लाहों) के विना डग-मगा रही हैं। पता ही नहीं चलता, कि किन देवताओं के बल पर यह किश्ती पार उतरेगी। विना खेवट की यह किश्ती अनेक गुणों वाली है, परन्तु पार ले जाने में असमर्थ है। पूर्वापरप्रकरण-भ्रष्ट वेदसार के सभी मन्त्रों की यही दशा है, वेद के सूक्त या अध्यायादि पूरे भाव को देते हैं और प्रत्येक पद अपना विशिष्ट महत्त्व रखता है। यदि उन पर ध्यान दिया जावे तो अवश्य रहस्य खुलता है। परन्तु वहां पर सर्वत्र मनन की आवश्यकता है। श्रद्धा चाहिए, केवल वाचनिक विकार कह देने या अनर्थक कल्पना कर देने से वह कभी भी स्पष्ट नहीं हो सकते।

नवें मन्त्र में 'यजत्राः' का अर्थ पुनः 'पूजनीय' बन गया। याग तथा पूजन का अर्थ समझने के लिए मीमांसा, श्रौतसूत्रां और कर्म काण्ड का अध्ययन अपेक्षित है। 'अधिवोचत' का अर्थ 'हमें समझाओ' भी युक्त नहीं है।

दसवें मंत्र में 'अराति' का अर्थ दुर्गतिकारिणी शत्रुता और 'द्वेषः' का अर्थ 'हानि' कपोल-कल्पित ही है। वेदसार के अनुसार छठे मन्त्र से दसवें मंत्र पर्यन्त शीर्षक "देवानां प्रियः सुपथः" है, जिसका अर्थ बताया गया है कि "देवताओं का प्रिय सुपथ" परन्तु इन चारों मंत्रों के अनुवाद में यही चिन्ता सता रही है— कि, मेरा या हमारा जीवन सुखयुक्त या सुख से भरपूर हो, सुरक्षित हो। सुपथ का कहीं कोई वर्णन नहीं है।

ग्यारहवें मंत्र से पाठक 'देवानामाशीः' नामक चौथे शोर्षक में पहुंचते हैं। इस शीर्षक की भी संगति देख लेवें। इसमें भी चाह या मांग का ही बल है। 'आशीः' या 'आशीष' तो दृष्टिगोचर भी नहीं होतो।

ग्यारहवें मंत्र में 'धर्म' का अर्थ 'कर्म' बन गया है। "मर्त्ताः" के विशेषण "विश्वः" का अर्थ 'सब प्रकार" बन गया हैं। "उसका जीवन सुखमय हो जाता है" यह अपने पास से जोड़ दिया गया है।

बारहवें मन्त्र में 'आरुहेम' विधिलिङ् उत्तम पुरुष बहुवचन का रूप अत्यन्त स्पष्ट है, परन्तु यहां पर जबर्दस्ती 'आशीः' में इस मंत्र को घसीटा गया है। इस बारहवें मन्त्र के पाठ पर यथास्थान पीछे भी विचार किया जा चुका है। इस मंत्र में 'इन्द्र' पद संबोधन था, उसे भी 'सानसि' मे के साथ जोड़ने का हठ किया गया हैं। क्यों

कि ऐसी पद-स्थिति ऋक् १, ८, १ आदि में भी है। तब वहां ऐसा क्यों नहीं ? इस मंत्र में पहले, दूसरे तथा तीसरे पादों में क्रमशः 'देवासः', 'मरुतः,' और 'इन्द्र' पद संबोधन हैं। 'देवासः' से पूर्वमन्त्रोक्त आदित्य अभिप्रेत हैं, वह यहां पर लिए नहीं। तीसरे संबोधन पद 'इन्द्र' को 'सानसिम्' के साथ समस्त मान कर 'इन्द्रद्वार तक पहुंचाने वाला' अर्थ कर दिया गया, ऐसा करने से आदित्यों का वाजसाति-रथ से, मरुतों का शूरसाति-रथ से तथा इन्द्र का प्रातर्यावा-सानसि-रथ से सम्बन्ध छिन्न-भिन्न हो गया है। शायद इसी से अनुवाद में "टूट-फूट से बचा हुआ रहने वाले उसी रथ पर......"इत्यादि कह कर उस रथ में टूट-फूट की संभावना हो गई है। इसके आगे अनुवाद में"...... हम भी चढा चाहें और परमसुख लाभ किया चाहें" यह भाषा पुराने बैरागी बाबाओं की संधुक्कडी हिन्दी का ही नमूना उपस्थित करती है। जिसे शायद पुराने समय में महत्त्व प्राप्त हुआ हो और आज भी उसी नाते महत्त्व मिल सकता हो ?

तेरहवें मंत्र में 'सुखलाभ हो' की आवृत्ति छः बार की गई है। जब कि मन्त्र के चारों पादों में स्वस्ति पद चार बार ही आया है। मन्त्र में वर्तमान 'मरुतः' संबोधन तथा 'दधातन' क्रियापद पूरे मंत्र की एकवाक्यता निश्चित कर रहे है। इसी मंत्रार्थ में 'सुखलाभ हो,' 'सुख बढ़े', समृद्धि बढे' कह देने से आशीष प्रार्थना में बदल दी गई है।

चौदहवें मंत्र में "वामम् अभि एति" का अर्थ "पूरा साथ देती है," जोड़ नहीं खाता और न ही मन्त्र के पदों की अर्थ से संगति जुड़ सकती है। क्योंकि प्लति के सूनु गय की स्तुति बताने वाला अगला मन्त्र ऋक् १०, ६३, १७; छोड़ दिया गया है और आशीष का यह मंत्र भी प्रार्थना-परक ही बन रहा है।

"एवा प्लतेः सूनुरवीवृधद्वो विश्व आदित्या अदिते मनीषी।
ईशानासो नरो अमर्त्येनास्तावि जनो दिव्यो गयेन।।"

(पाठकों से यह विशेष निवेदन है कि वह यहां पर प्लति तथा गय का नाम देखकर वेद में इतिहास की कल्पना न करें। इस विषय पर जब हमारा वेदों का अनुवाद प्रकाशित होगा, वहां पर विशेष रूप से प्रकरण-परम्परा के आधार पर प्रकाश डाल दिया जायगा)।

मन्त्र १५ से २१ तक 'देवों की शांतिकारिता' है और २२ से २८ तक 'जलदेवतानां शान्तिकारिता' है। वेद-सार में देवों और जलदेवताओं में अन्तर कहीं पर नहीं बताया गया है। पाठक के लिए शायद यह एक व्युत्क्रम भी है, कि पहले तो देवप्रीति आदि चार विषय बता दिए और अब देवों की शान्तिकारिता बताई जा रही है? प्रश्न यह भी होता है, कि क्या देवों का ऐसा स्वभाव है, या उन से यह प्रार्थना कर के ऐसी कामना की जा रही है? इसका कुछ भी संकेत वेदसार में कहीं नहीं है।

१५वें मंत्र में 'शं नः' का अर्थ 'हमारे लिए सुखकारी हो' किया है। शेष छः पद देवताओं के नाम ही हैं। केवल 'उरुक्रमः' पद का 'विशालगामी' अर्थ किया है।

१६वें मंत्र में सूर्य के विशेषण 'उरुचक्षाः' को क्रिया-विशेषण बना दिया गया है। 'चतस्रः प्रदिशः' का अर्थ 'चारों प्रदेश' कर दिया है, यह दोनों उपपन्न नहीं है। १५ वां मन्त्र ऋक् १, ६०, ६० है, तो १६ वां ऋक् ७, ३५, ८, है। दोनों के एकत्र करने में शायद 'शं नः' पदों की ही तुक बैठती हैं।

१७वें मन्त्र को संग्रह करते हुए बीच का मंत्र ऋक् ७, ३५, ६ पुनः छोड़ दिया गया है। इस १७ वें मंत्र में "शं नः पर्जन्यो भवतु प्रजाभ्य." का अर्थ किया है "हमारे लिए मेघ सुखकारी हों, जिस से हम प्रजावान् बन सकें।" मंत्र के अभिप्राय को इस अनुवाद से बदल ही दिया गया है। मंत्र में तो प्रजाओं के लिए पर्जन्य से शान्ति की कामना ठीक वैसे ही की गई है, जैसे कि पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती पादों में त्राणशील सविता से, विभावती उषाओं से तथा क्षेत्रपति शम्भु से 'शम्' की कामना की गई है। पर्जन्य की शान्ति से प्रजावान् हो सकने का या न होने से प्रजावान् न हो सकने का कोई भी आशय इस मन्त्र में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष किसी प्रकार भी न तो स्पष्ट है और न ही सिद्ध हो सकता है।

१८ तथा १९ मंत्र को अथर्व १९. ९, १—२, से लिया गया है। १८ वें मंत्र में "शान्ता उदन्वतीरापः" का अर्थ नहीं दिया गया। शायद यह भाग जलदेवताओं को ला कर खड़ा कर देता ? तब शीर्षक ठीक कैसे रहता ? मन्त्रों से शीर्षक प्यारा है। मन्त्र किसी के हैं, शीर्षक अपने हैं ? इसी कारण तीसरे पाद का अनुवाद भी प्रकाशन के योग्य नहीं रहा ? वाह री ममता ?

२० तथा २१-मन्त्र यजुर्वेद से ले लिए और देवों की शान्तिकारिता समाप्त हो गई। २० वें मंत्र में 'होता हुआ' पता नहीं कहां से आ गया ? शायद 'भवन्' का अध्याहार किया हो, परन्तु यह अध्याहार संगत नहीं है। साथ ही पवमान वायु, सरणशील सूर्य और जनतर्पण करने वाले पर्जन्य की ओर अनुवाद में कहीं कोई झलक नहीं दिखाई देती। २१ वां मन्त्र अति स्पष्ट है। इस मंत्र में भी 'एधि' का अर्थ 'मुझे भी मिले' किया गया है, जो कि संगत नहीं है। शेष अनुवाद भी सामान्य कोटि का ही है।

२२ से २८ मंत्र 'जलदेवतानां शांतिकारिता' है। संस्कृत शीर्षक में जलदेवता को बहुवचन मिला है, जब कि हिन्दी में एक-वचन हो गया है। इन मंत्रों में चार बार प्रयुक्त किया गया 'हे जलो' संबोधन तो हिन्दी के किसी भी विद्वान् को मान्य नहीं है। अनाड़ी भले ही ऐसा प्रयोग करते रहें। इसी प्रकार २२ मन्त्र में 'हि' का 'वस्तुतः' अर्थ भी संगत नहीं है। 'ऊर्जे' का अर्थ 'ठीक से' करना भी उपपन्न नहीं होता। २३ वें

मंत्र में 'हे जलो……'आओ'--यह दोनों ही संगत नहीं, जल कहां से बुलाए जा रहे हैं ? २४ मंत्र का अर्थ मंत्र के पदों से मेल नहीं खाता । जल की प्रसन्नता पर कौन सी स्थिति निर्भर है 'हम उसके ही लिए तुम्हें ढूंढ-ढूंढ कर पाते हैं' —यह किन पदों का अर्थ है ? आगे भी, 'आओ …… बढाओ' तक भाव मंत्र के पदों के नहीं हैं। २५ वां मंत्र बहुत प्रसिद्ध है और आर्य समाज की सन्ध्या में सर्वप्रथम है। 'शं नो देवी:' इस मन्त्र के अर्थ में भी बहुत कुछ अपने पास से जोड़ा गया है। प्रभावशाली और सुरक्षित होने की बात मंत्र के पदों में है ही नहीं।

२६ मन्त्र ऋक् १०, ९, ७ का है, तो २७ मन्त्र अथर्व १, ६, ४ का है।

२९ मंत्र से ३३ तक 'आनन्दमय जीवन' आ गया है। यद्यपि अभी क्षेत्रदेव का प्रसादन आगे आवेगा। साध्यखण्ड का साधक विना हो क्षेत्र (आधार) के अपना जीवन आनन्द-मय बना लेगा—यह भी एक अनोखी कल्पना है ? जादू है ?

२९ वाँ मंत्र ही पूरे सामवेद में से वेदसार के योग्य सिद्ध हुआ। इसमें भी 'रन्त्य इत् नु' का अर्थ 'रमणीय हो' यह पता नहीं कैसे बन गया ? मन्त्र ३० में 'भव' का अर्थ 'प्राप्त हो' तथा 'शर्म सप्रथः' का अर्थ 'विशाल मङ्गल' संगत नहीं हैं। √प्रथ् धातु का विस्तार अर्थ में प्रयोग होता है और इसी से पृथ्वी शब्द की निष्पत्ति हुई है। इतने महत्त्वपूर्ण शब्द को विशाल कह कर टाल देना शब्दशास्त्र के प्रति घोर अन्याय है। 'शर्म' शब्द

को भी मङ्गल से गतार्थ कर देना इसे स्पष्ट टालना मात्र ही है।

३१ मंत्र का पाठ ही भ्रष्ट कर दिया है। अर्थ का तो कहना ही क्या ? साथ ही भूमिसूक्त के पहले ६२ मंत्र छोड़ दिए। इस पर पीछे पाठ-विचार-प्रकरण में पृष्ठ ५५ से ६० तक भी विचार किया ही जा चुका है। पुनः विचार करने से पिष्ट-पेषण ही होगा। यदि यहां पर ऋषि के दर्शन पर मनन किया होता, तो मंत्रार्थ की ओर ध्यान ठीक जम सकता था। परन्तु यहां पर 'कवे' को 'अकवे' कर देना 'दिवा' का अर्थ 'आकाश' (अन्तरिक्ष) बना लेना तो वैदिक वाङ्मय की भारी उपेक्षा है।

ध्यान रहे, कि निरुक्त सातवें अध्याय के वर्णनानुसार वैदिक वाङ्मय में पृथिवी, अन्तरिक्ष तथा द्युरूपी तीन लोक; अग्नि, वायु (इन्द्र) तथा आदित्य रूपी तीन देव, ऋग् (पद्य) यजुः (गद्य) साम (गीति) रूप तीन वेद, तथा प्रातः-माध्यन्दिन और तृतीय सवन आदि तीनों प्रकार के सांसारिक पदार्थों का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण विवेचन है।

संक्षेप में यहीं पर बस करते है। विचारों का तो अन्त नहीं। इस प्रकार केवल इतना विचार करने पर भी वेदसार की अर्थ पद्धति देखने से यह पता चल ही जाता है, कि यहां पर जो चाहे अनुवाद कर दिया गया है। मन्त्रों को प्रकरणभ्रष्ट कर देने से उन पर मनन करना भी छोड़ दिया है। यदि थोड़ा सा भी मनन किया जाता, तो ऐसी गड़बड़ अर्थ के विषय में कभी नहीं होती, गढन्त शीर्षक भी कुछ महत्त्व

नहीं रखते हैं और अनुपयुक्त हैं। यहां पर व्याकरण, कोष आदि का कुछ आदर ही नही है और न ही निरुक्तादि की बात का कुछ ध्यान रखा है। ऐसी स्थिति में यह अनुवाद सामान्य पाठकों के भी उपयुक्त नहीं है, विज्ञजन इसका आदर ही नहीं करते, तो छात्र ही इस से क्या पायेंगे ?

१४-वेदसार के परिशिष्ट और भूमिकाः-

१९६२ के संस्करण में, भूमिका (पृष्ठ १३ से ४०) और दो परिशिष्ट (पृष्ठ १३६ से १७२ तक), पहले (१९५१) संस्करण से विशिष्ट हैं; प्रथम परिशिष्ट में "वैदिक व्याकरण, स्वर तथा छन्द" पर "कुछ आवश्यक संकेत" दिए गए हैं। परिशिष्टों का परीक्षण कर के भूमिका का परीक्षण प्रस्तुत किया जायेगा।

(क) परिशिष्ट (१) परीक्षण:—

पृष्ठ १३६ (क) में वर्णमाला बताते हुए 'ड, ढ,' के स्थान पर प्रयुक्त होने वाले 'ळ,' 'ळ्ह' का संकेत है। वेदसार के मन्त्रों में उदाहरण केवल 'ळ' का ही है 'ळ्ह' का नहीं। इसके विपरीत ॐ, रङ्ग आदि का प्रयोग वेदसार (पृष्ठ १२) मन्त्र २० से ही आरम्भ हो गया है। इनका परिचय कहीं भी नहीं है।

पृष्ठ १३९ (ख)—(१) में व्यूह का परिचय देना आवश्यक था, यह पारिभाषिक शब्द हैं। संधि के रूप में इसे

बताते हुए उदाहरण Macdonell वाला प्रस्तुत किया है। वेदसार में ऐसे कई प्रयोग हैं, उन्हें यहां पर उदाहरण के रूप में नहीं रखा। अभी अप्रेल १९६३ में जो परीक्षा हुई उसमें परीक्षक ने (७ मन्त्र में) Metri Causua पूछा है, परन्तु छात्रों को इसका परिचय न था। अध्यापकों ने भी शायद यह बताया न था, अतः छात्र चक्कर में पड़ गए और कुछ लिख पाए, तो कुछ नहीं। इस बात से तथा पीछे ११६ तथा २१२ मन्त्रों की आलोचना से यह स्पष्ट है, कि वेदसार में दिया गया छन्दः-परिचय अपूर्ण है। १४६—१४७ पृष्ठों के छन्दः-परिचय से छात्रों का ज्ञान पूर्ण नहीं होता। वेदसार में अंतिम पंक्तियां हैं—"छन्दोमीमांसा और पाठमीमांसा दोनों विज्ञान एक दूसरे के परम सहायक विज्ञान हैं।" जब कभी इस मत पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक वहां से प्रकाशित होगी, तो इस मत की तात्त्विक आलोचना कर दी जायगी।

प्रथम परिशिष्ट की बहुत सी बातें पीछे यथास्थल आलोचित की जा चुकी हैं। इस पर विशेष बात यही है कि पहले कुछ कहा गया हो, तो परिशेष को परिशिष्ट में रखा जाता है, यहां मंत्रों के अवसर पर या भूमिकादि में कहीं ऐसी बात ही नहीं कही है, जिसे परिशिष्ट में परिशेष समझा जावे। परिशिष्ट की यह बातें वस्तुतः भूमिका में ही आ जानी चाहिए थीं। तब परिशिष्ट में प्रकाश देने के लिए टिप्पण रखे जाते।

(ख) परिशिष्ट (२) परीक्षण :—

दूसरे परिशिष्ट में "विशिष्ट-पद-कोष" हैं, जो कि "वैयाकरण-टिप्पणयुत" बताया गया है। इसे कल्पित-वैयाकरण-टिप्पण-युत कहा जा सकता है। अभी इस का प्रामाणिक ग्रन्थ भी साधन खण्ड तथा सिद्धिखण्ड की भांति कल्पना जगत् में ही है। इसमें भी शेष वेदसार की भांति कहीं कोई प्रमाण नहीं है। केवल पृष्ठ १६४ में 'भद्र' शब्द पर 'तु शब्रा' लिखा है, जिसका अर्थ है 'तुलनीय शतपथब्राह्मण'। परन्तु यह वाक्य शतपथब्राह्मण या अन्य उपलब्ध ब्राह्मणों में कहीं नहीं है। इसे सायण ने 'शाट्यायनिनः आमनन्ति' कह कर ऋग्वेद प्रथममण्डल में उद्धृत किया है। फिर यह प्रमाण भी निर्वचन-परक नहीं है, अपितु फलितार्थ प्रतिपादक है। इस प्रकार जब प्रमाणहीन व्युत्पत्तियां परिशिष्ट में दी जावेंगी, तो उन्हें परीक्षक कैसे उपयुक्त मानेंगे। यहां पर पाठकों को इस परिशिष्ट के परीक्षण से पहले वेदसार-परीक्षण प्रथम पीठ सप्तमाधिकरण में दिए गए वेद तथा व्याकरणादि (पृष्ठ २५ से ३२) को देख लेना उपयुक्त होगा। साथ ही वेदसार प्रस्तावना पृष्ठ ९ से १० तक को नीचे लिखी पंक्तियां भी ध्यान देने योग्य हैं—

"दूसरा 'परिशिष्ट' लगभग ५०० विशिष्ट पदों के कोष के रूप में है। इस कोष में प्रत्येक पद के आगे उसकी मन्त्र संख्या देकर व्याकरण की दृष्टि से उसके स्वरूप-परिचय का संकेत किया गया है। इस कोष में कहीं-कहीं पढ़ने

पढ़ाने वालों के परिचित व्याकरण-ग्रन्थों से विसंवाद भी दृष्टि-गोचर होगा। जैसे, 'अकरम्' पद को पाणिनीय व्याकरण में √कृ. (तना,) लुङ् उ१ कहा गया है। परन्तु यहां पर √कृ. (भ्वा.) की कल्पना करके प्रकृत रूप को लङ् उ१ निर्दिष्ट किया गया है। अध्यापक-महानुभावों से विशेषतः यह निवेदन है, कि वे ऐसे स्थलों को तुलनात्मक ढंग से छात्रों को ग्रहण कराने का कष्ट करेंगे। और कुच्छ-एक ऐसे भी टिप्पण होंगे, जिन्हें छात्र अपने गुरुजनों के परामर्शपूर्वक ही भली भांति अवगत कर सकेंगे।"

इन पंक्तियों के अनुसार पृष्ठ १५० पर 'अकरम्' शब्द पर वैयाकरण टिप्पण यह है— "अकरम् [१६३|—क्रि., <√ कृ 'करणे', भ्वादि, लङ् उ१।" अब पाठक विचार करें, कि यहां पर विचार के लिए कितनी सामग्री उपलब्ध हुई है। यहां पर यह निर्देश दे दिया गया है— कि, 'अकरम्' पद मंत्र १६३ में प्रयुक्त है, वह क्रियापद है, 'कृ करणे' भ्वादि से लङ् उत्तम पुरुष एकवचन में निष्पन्न होता है।

इस पर अध्यापक महानुभाव तुलनात्मक ढंग से छात्रों को क्या ग्रहण कराने का कष्ट करेंगे? संस्कृत में एक ही व्याकरण प्रचलित है और वह पाणिनीय है। उसीके अनुसार वैदिक पदानुक्रमकोष संहिता-भाग द्वितीय-खण्ड पृष्ठ ११५० पर 'अकरम्' रूप को 'अकर्म' से पूव रखा है। अकरम् के साथ ही 'अकारिषम्' और 'अकार्षम्' रूप रखे हैं। आस पास के रूप लुङ् लकार के ही हैं। इस क्रम को वैदिक

पदानुक्रमकोष संहिता भाग प्रथम खण्ड Introduction पृष्ठ Lii पर यों रखा गया है —

" (C) Conjugative Forms.

1. In entering the conjugative forms as available, the primary ones belonging to the present and imperfect tenses and the subjunctive, imperative and optative moods related to them, are first given, in the order लट, लेट् लोट्, लङ and विधिलिङ् e. g. अनु √ब्रू , √१ अस्।

2. When the forms belonging to the abovementioned tenses and moods are based on different conjugative varieties (Gan) they are grouped stemwise, in seperate paragraphs, e. g. अति √ तृ, अनु √ भृ।

3. Then, follow the remaining primary forms in the order, लिट् , लृट् , आशीर्लिङ् , लुङ्, and लृङ् , e. g. अनु√नृत् अनु √ ष्ठा (<स्था), √ १ अस्, २ √ अस्,"
इत्यादि।

पीछे पृष्ठ २५ से ३२ तक वेद तथा व्याकरणादि सप्तम अधिकरण पर विवेचन करते हुए हमने प्रथम पीठ में भी इसी बात को लक्ष्य रख कर सामान्य बात कहीं थीं। प्रमाण के रूप में 'कृ-मृ-दृ-रुहिभ्यश्छन्दसि' पा ३, १, ५९ को उद्धृत

किया था। पाठक भली भांति जानते हैं, कि इस सूत्र का कुछ भी प्रयोजन नहीं रह जाता, जब कि "छन्दसि लुङ्-लङ्-लिटः" पा ३, ४, ६ से सर्वकाल मे इन लकारों का विधान कर दिया गया है, इसके साथ ही "व्यत्ययो बहुलम्" पा. ३, १, ८५ पर 'सुप्तिङुपग्रह'—इत्यादि कारिका द्वारा व्यत्यय मान लिया गया है। अर्थात् 'करोति' 'करते' आदि वैदिक प्रयोगों की भांति 'अकरम्' भी लङ् लकार में निष्पन्न हो जायेगा। कई भाष्यकारों ने कुछ अन्य स्थलों पर ऐसा किया भी है। परन्तु आधी मात्रा की भी अधिकता से बचने वाले आचार्य पाणिनि ने ही 'कृ मृ'—इत्यादि सूत्र की रचना क्यों की ? यह एक महत्त्वपूर्ण और गवेषणा का विषय है। यदि इस विषय पर आज के प्रतिष्ठित वैदिक संस्थान से प्रकाश नहीं डाला जाता, तो यह संस्थान की प्रतिष्ठा के अनुरूप नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि लङ् लकार के 'अकरम्' को पृथक् रखा जावे और लुङ् लकार के 'अकरम्' को पृथक्। क्यों कि आदर्शरूप से स्वीकृत आचार्य पाणिनि के व्याकरण के अनुसार यह प्रयोग दोनों लकारों में निष्पन्न हो सकता है। अध्यापक बेचारे इस बात के विवेचन के लिए व्यर्थ मत्था क्यों फोड़ें ? जब पदों का अनुक्रम एक विशेष रूप से बनाया जा रहा है, तो यह भी उसी संस्थान का कर्तव्य है, कि वह ऐसे स्थल पृथक कर के बताए, कि कहां पर लङ् लकार में 'अकरम्' की निष्पत्ति होगी और कहां पर लुङ् लकार में।

अब प्रकृत रूप की ओर विज्ञ पाठक विचार करें। यहां पर पाठ है—

''यदि जाग्रद् यदि स्वपन् (न्) एन एनस्योऽकरम् ।
भूतं मा तस्माद् भव्यं च द्रुपदाद्-इव मुञ्चताम् ।।''

(अथर्व ६,११५, २,)। यहां पर सायणभाष्य है--''अकरम् = कृतवान् अस्मि''। सायण ने यहां पर व्याकरण दिया है— ''अकरम् इति । ''कृमृदृरुहिभ्यः'' ० इति च्लेरङादेशः ।''

इस मन्त्र में 'अकरम्' प्रयोग है, अर्थ है (कृतवान् अस्मि'=) कर चुका हूं। अब यह सामान्यभूत है या अनद्यतनभूत? इसका विशेष निर्णय कराने वाले इसी मंत्र में 'जाग्रत्' और 'स्वपन्' प्रयोग हैं, जो कि शतृप्रत्ययान्त हैं। यह सभी जानते हैं कि 'शतृ' प्रत्यय 'लट्' के स्थान पर होता है और 'लट्' वर्तमान में होता है। इस कारण इसे अनद्यतन-भूत कभी नहीं कह सकते, यह अद्यतन तथा अनद्यतन दोनों में समान रूप से प्रयुक्त हो रहा है, अतः यहां पर सामान्य भूत ही मान लेना उचित है, न कि अनद्यतन भूत। इस स्थिति में इसे लङ् लकार में कैसे मान सकते हैं? लङ् तो अनद्यतन भूत के अर्थ में नियत है, देखें—''अनद्यतने लङ्'' पा ३, २, १११; तथा लुङ् भूतसामान्य में नियत है, देखें ''लुङ्'' पा ३, २, ११०। इतने स्पष्ट प्रयोग के लिए प्रस्तावना की लगभग १४ पंक्तियां व्यर्थ लिखी गईं और छात्रों और अध्यापकों को झमेले में डाल दिया। यहां पर जब विचार का समय आया तो विस्तार

से त्रस्त होकर संकेतों और संक्षेपों का आश्रय ले लिया, जिनसे छात्रों के पल्ले कुछ न पड़े और अध्यापक मत्था-पच्ची करते रहें। यदि इस प्रयोग पर विशेष विचार किया जाता और दस पांच उदाहरण दोनों प्रकार के रख दिए जाते, तो छात्रों की व्युत्पत्ति भी बढती और अध्यापकों को ज्ञान की दिशा में भी कुछ मार्गदर्शन मिलता। ऐसा करने पर सचमुच कुछ न कुछ तुलना हो ही जाती।

प्रसंगवश इन संकेतों और संक्षेपों के विषय में भी कुछ कह देना आवश्यक हो जाता है। यह संक्षेप और संकेत विस्तार से बचने के लिए अपनाए गए हैं, ऐसा बताया जाता है। विचार की बात यह है, कि यदि विस्तार से भय था, तो यह शब्दसूची ही बनाने की क्या आवश्यकता थी? इस शब्दसूची में बरसों बीत गए, सहस्रों पृष्ठ छप गए और लाखों रुपए खर्च हो गए? यही टिप्पण महत्त्वपूर्ण कहे जा सकते थे, जिन को देख कर पाठक समझ पाते, कि लम्बे विस्तार वाले अग्नि, आत्मा, अस्मद् तथा कवि आदि शब्दों के कहां कहां किन किन विशिष्ट अर्थों में प्रयोग हुए हैं? इस से विद्वान् लोग समय समय पर लाभ उठाते और शब्दतत्त्व का विवेचन कर पाते। मुझे बड़ी पुरानी बात याद आ गई, जब मैं काशी में पढ़ता था, तो जिन विद्वानों को यह वैदिक पदानुक्रमकोष भेंट किया गया था, उन्होंने इसके विविध उपयोग आरम्भ कर दिए थे। एक विद्वान् अपने अध्ययनकाल में रात को वैदिकपदानुक्रमकोष की मोटी पुस्तक को खड़ा कर देते और उस पर तेल वाला

दीपक धर देते, तब अपना स्वाध्याय करते। हमारे साथियों ने उन से एक दिन पूछा, "गुरू जी, यह पुस्तक पर आप दीपक क्यों धर देते हो ?" उत्तर मिला "इस का और कुछ तो उपयोग है नहीं, बेचारे बड़े प्रेम और श्रद्धा भावना से इसे भेंट कर गए थे, लडके रद्दी में वेचने को कहते थे, हम ने कहा, ऐसा नहीं करना, उन का परिश्रम है, घर में रखेंगे ही। इस पर दीपक रखने से हम अपनी पुस्तक भी पढ़ते रहते हैं और इसे भी देखते रहते हैं। इस से हमें उन के प्रेम का सदा स्मरण होता रहता है और हमारा भी स्नेह उनकी ओर दीपक से तेल के रूप में थोड़ा २ करके टपकता रहता है। इसे खोल कर पढ़ें, ऐसी इस में कोई वस्तु नहीं है।" अब यही दशा वेदसार में दिए गए संक्षेपों से इस परिशिष्ट की भी हो रही है। M. A. के छात्र अभी लघुकौमुदी में लगे हुए हैं, वह बेचारे (लगभग आधा सैंकडा) इन संकेतों को कैसे याद करें और अभ्यास करें ? उन्हें अध्यापकों ने जो कुछ पढ़ा दिया, वह भी उन के लिए भारी है। मूल शब्द भी उन्हें अभी विदित नहीं हैं, संक्षेप वह कैसे समझें ?

इसी पृष्ठ पर दूसरा शब्द 'अकवे' है, उस पर पीछे मन्त्र ३१ के विचार पर परीक्षण हो ही चुका है। इस पर भी लगा हुआ तारक-चिन्ह बता रहा है, कि वेदसार में यह पद प्रतारक ही है। इसके आगे 'अक्षभिः' 'अक्षितम्' तथा 'अगन्म' को ठीक कहा जा सकता है, परन्तु यह भी संकेतग्राह्य होने से संकेत-प्रिय जनों के ही प्रिय हैं। यहां पर अस्थि-दधि-

सक्थ्यक्ष्णामनङ् उदात्तः" पा. ७, १, ७५; का भी परिचय अपेक्षित है और 'अगन्म' में होने वाले विशेष कार्यों का परिचय भी, जिसे यहां नहीं दिया गया।

पृष्ठ १५१ पर 'अघायतः' रूप में 'अघ' शब्द का अर्थ हिंसा बताया गया है। यह प्रसिद्ध भी नहीं है और मान्य भी नहीं हो सकता। इस बात को तारक चिह्न स्पष्ट कर देता है। ऐसी स्थिति में इस का प्रसिद्ध और भाष्यादि सम्मत अर्थ पापादि बताना भी परमावश्यक है। प्रसिद्ध अर्थ के विना कल्पितार्थ की गति कैसी होगी ?

इसी पृष्ठ पर 'अघायोः' की दशा कुछ ठीक है। परन्तु 'अघाय' धातु से 'अघायु' सिद्ध करके पंचमी का रूप बनाना क्लिष्ट-कल्पना है। ऐसा करने पर 'इदंयुः' 'शुभंयुः' आदि सभी शब्दों के 'इदंय' और 'शुभंय' आदि धातु (नामधातु) कल्पित करने पड़ते हैं जो युक्त नहीं हैं। यास्क ने 'इदंयुरिदं कामयमानः' निरु. ६, ६, ३२, आदि लिखकर ऐसे पदों की व्याख्या की है और वार्तिककार ने 'छन्दसि परेच्छायां क्यज्वक्तव्यः' तथा 'क्याच्छन्दसि' लिखकर 'क्यच्' कर के 'उ' प्रत्यय का विधान किया है। इस से सरलता भी हो जाती है और नाम से नामधातु बन कर समझ में आ जाने से संगत भी है। छात्र को यदि पूर्ण जानकारी दी जावे तो उस का विवेक बढ़ेगा और वह अन्य शब्दों में भी लक्षणशास्त्रानुसार बरत लेगा, परन्तु यदि उसे इन रूपों की एक-रूपता न बताई जावे, तो वह निर्देश पर ही आश्रित रहने वाला रट्टू बनेगा। मन्त्र

२५ में 'शंयोः' पद भी प्रायः इसी स्थिति में है। वहां पर एक पद का दूसरे पद पर कोई भी प्रभाव नहीं है, अतः वहां पर दो उदात्त भी हैं और पदकारों ने दो भिन्न पद माने हैं। 'अघायु' शब्द में इस 'यु' का पूर्व पद पर प्रभाव पड़ा है और 'अश्वाघस्यात्' पा ७, ४, ३७ से 'अघ' शब्द को 'आत्' आदेश हो गया है। इस से पद भी एक हो गया और स्वर भी भिन्न नहीं रहा। यह विवेचन 'योः' (पृष्ठ १६६) पर देना आवश्यक है, न कि उसे सामान्य रूप से सुख वाचक अव्यय मान लेना और काल्पनिक चिह्न भी नहीं देना। इसे निरु. ४, ४, २२, में "शंयुः=सुखंयुः" पुष्ट करता हैं।

इसी पृष्ठ पर 'अजिरम्' को विशेषण पद लिख कर 'यद्' को विशेष्य निर्दिष्ट किया है, जब कि उसी मन्त्र (१५९) में 'मनः' शब्द भी है। मनः शब्द पूर्व मन्त्रों में भी प्रयुक्त है, तथा इस मन्त्र में भी प्रयुक्त है। उस नामपद को छोड़ कर इसे इस सर्वनाम का विशेषण क्यों माना गया? यहां पर इसे समान चिह्न देकर 'अज़रम्' रूप भी माना। जिस का अर्थ यह होता है,' कि यह पाठ 'अजरम्' से बिगड़ गया है। 'जृ' की 'ऋत इद्धातोः' पा ७, १, १०० से अभीष्ट रूपसिद्धि ('क' प्रत्ययान्त) हो ही जाती। इस की 'अजरम्' के साथ समानता कैसे हो जायगी? फिर मन में जीर्णता की कल्पना संगत है, या जरात्व की ? जरा और जीर्णता के अर्थों में वृत्तिभेद है।

'अतितृण्णम्' भावपद 'यत्' से (यत्किमपि=)जा कुछ बता रहा था, वह यहां पर छोड़ दिया। तृद् और क्त में होने वाली विशिष्ट सन्धि का नियम भी बताना था, जिसके कारण 'तृत्त' न बन कर ('रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' पा ८, २, ४२) 'तृण्ण' बन गया। वह वेदसार में कहीं भी नहीं बताया गया है, 'अदब्धासः' पद में भी 'झषस्तथोर्धोऽधः' की सन्धि का कुछ भी संकेत नहीं है और न ही इस प्रकार की सन्धियों का परिचय परिशिष्ट (१) पृष्ठ १३९,-१४० में कराया गया है। इसी प्रयोग में 'आज्जसेरसुक्' पा ७, १, ५० का परिचय भी अपेक्षित है, उस की भी उपेक्षा ही की गई है, हां 'ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति' (गांव जाते हुए तिनका छू लेना) न्याय से पृष्ठ १४० पर (ग) सुबन्त (२) में लिखा है, कि "प्र ३—देवाः व देवासः' इससे अधिक कहीं कुछ नहीं है। इसी पर्चे में रखी Vedic Grammar for studants से चाहे इस नियम का परिचय हो जावे। प्रतीत होता है, कि वेदसार में इसे सारहीन समझ कर ही छोड़ दिया गया है ?

'अद्वयस्' (मन्त्र ३३) में भी प्रातिपदिक को 'सु' में होने वाले कार्य नहीं बताए हैं। इसे अन्न का विशेषण भी बताया हैं, जब कि मन्त्र ३३ में 'पितु' पद वर्तमान है। इसी प्रकार 'अद्विषेण्यः' में भी 'पितु' पद के अर्थ अन्न को ही विशेष्य बनाया है। 'पितु' शब्द यहां पर पितृभावादि का संकेत करके मंत्र में एक विशेषता बता रहा है, कि

अन्न मनुष्य का पितृवत् पालन करता है। पिता का भी उसी अन्न से पालन हुआ और आगे भी वही अन्न प्राणिमात्र का पालक है, यह "अन्नं वै प्राणाः" श्रुति के द्वारा कहा जाता है। इस कारण ऋषि के प्रेरणादायक तथा भावना प्रधान 'पितृ' शब्द के स्थान पर अन्न शब्द को विशेष्य रखना कदापि संगत नहीं है। अन्न शब्द में √अद्, भक्षणे ही का भाव तो है। यह पद मंत्र में भी प्रयुक्त नहीं है। 'अद्वयस्' और 'अद्विषेण्य' पद जिस विशेष भाव को व्यक्त करते हैं, वह भी 'अन्न' पद रखने से दब जाता है। अतः इन दोनों पदों का विशेष्य 'पितु' ही निर्दिष्ट किया जाना चाहिए। साथ ही 'द्विषेण्य' शब्द में 'एण्य' प्रत्यय का परिचय भी अपेक्षित है।

अध्वराय (मन्त्र ५४) में '* अध् (* ऋध) आराधने' धातुओं की कल्पना की गई है। यह दोनों धातु न तो किसी धातुपाठ के हैं और न हीं अध्वर शब्द में इन की वृत्ति किसी आचार्य ने मानी है। अभी तक यास्कादि आचार्य 'ध्वर' शब्द से नञ् समास करके अध्वर बनाते रहे हैं। 'अध्वर' को आराधनार्थक 'अध्' या 'ऋध्' से मानने पर मीमांसाशास्त्र का पूजित विचार भी ध्वस्त हो जाता है। इस प्रकार की कल्पना निर्मूल और निरर्थक है, अतः ग्राह्य नहीं हो सकती। इस मन्त्र में संपादक महोदय ने 'ऐश्वर्य-देवस्य प्रातः प्रसादनम्' शीर्षक दिया है। प्रथम तो यह शीर्षक यहां बनता ही नहीं है। यदि इस शीर्षक के आधार पर भी संगति लगावें, तो इस मन्त्र में किसी प्रकार की आराधना की कोई बात नहीं है।

"'अध्वर के लिए उषाएं आ गई हैं, जैसे दधि-क्रावा (घोडा) शुचि (प्रकाश युक्त, निर्मल) पद के लिए झुकता है। वह उषाएं मेरे लिए वसु को प्राप्त कराने वाले भग को अभिमुख भाव से वहन करके लावें, जैसे कि वेगवान् घोड़े रथ को लाते है।" इस भावना में आराधना का लेश भी कहीं नहीं है। उसे अपने अनुवाद में थोपा गया और टिप्पण में भी भर दिया, गनीमत यही है, कि पाठ पर दया ही कर दी।

अभी १९६३ अप्रेल की परीक्षा में पूछे गए 'आववृत्रन्,' 'द्राघीयः,' 'अगाम' आदि शब्दों पर भी वेदसार में कुछ नहीं है। मैं ने पहले प्रतिवेदन में भी यह लिखा था—कि इन अतिसंक्षिप्त, संकेत-युक्त और आवश्यक-परिचय रहित परिशिष्टों से कोई विशेष लाभ नहीं है। अब वेदसार के पृष्ठ १५० तथा १५१ पर दिए गए शब्दों को पाठकों ने देख लिया, कि वह शब्द इस पुस्तक में कैसे रखे गए हैं? स्थालोपुलाक न्याय (बरतन में पके चावलों की भांति) से पाठकों ने देख ही लिया, कि यह परिशिष्ट अनुपयुक्त हैं और आवश्यक विषय पर कुछ भी प्रकाश नहीं देते। अतः इन का होना या न होना बराबर होने से यह वेदसार में वेद-भार ही हैं।

"लक्षण-प्रमाणाभ्यां हि वस्तुसिद्धिः"

यह कहा जाता है। यहां पर वेदसार में किसी लक्षण का निर्देश नहीं है और प्रमाण की बात ही नहीं। केवल 'भद्र' पद पर शतपथ ब्राह्मण के नाम से प्रमाण है, वह भी सायण के भाष्य में शाट्यायन शाखा का कहा गया है।

(ग) भूमिका के विषय में—

भूमिका की भी ऐसी ही स्थिति है। वेद शब्द वैदिक वाङ्मय में कुशमुष्टि तथा ग्रन्थराशि के लिए प्रसिद्ध है। पहले अर्थ में वेद अन्तोदात्त होता है और दूसरे अर्थ में आद्युदात्त। इसकी व्युत्पत्ति धर्मशास्त्रकारों ने बताई है—

प्रत्यक्षेणानुमित्या वा यस्तूपायो न बुध्यते।
एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदता॥

जो उपाय प्रत्यक्ष अथवा अनुमान प्रमाण से नहीं जाना जाता, उसे वेद से जानते हैं, अतः इसे वेद कहते हैं। सायणाचार्य ने कहा है कि—

"इष्टप्राप्त्यनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपायं यो वेदयति स वेदः"

अभीष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार के उपाय को जो (वेद=ज्ञान) करावे, वह वेद है, यह व्युत्पत्ति भी दी है। इतने प्रसिद्ध और प्रचलित यौगिक वेद शब्द को वेदसार में विना किसी हेतु या युक्ति के ही पृष्ठ १६ पर 'वेध' तथा 'मेध' का संगोत्र माना है और पंजाबी शब्द 'बोड़' का पर्याय होना कहा है। ऐसी असंगत, निर्मूल और युक्तिहीन कल्पना किस के लिए मान्य हो सकती है?

वेद मन्त्रों के द्रष्टाओं को ऋषि कहा जाता है। 'ऋषि' शब्द की तीन प्रकार से व्युत्पत्ति यास्कने कही है "ऋषिर्दर्शनात्" "स्तोमान्ददर्श इत्यौपमन्यवः" "तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत्तदृषीणामृषित्वम्, इति विज्ञायते।' निरु. २, ३, ११;

१ ऋषि दर्शन से कहे जाते हैं। २ इन्होंने स्तोमदर्शन किया, अतः इन्हें ऋषि कहा जाने लगा—यह उपमन्यु मतानुयायी मानते हैं। ३ इन्हें तपस्या करते करते स्वयम्भू ब्रह्म प्राप्त हुआ, तब ऋषि कहा जाने लगा। इसी प्रकार तैत्तरीयारण्यक २ प्रपाठक ९ अनुवाक में लिखा है "अजान् ह वै पृश्नीन् तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्ष त्तदृषोणामृषित्वम्" अजन्मा निर्मल जनों को तपस्या करते हुए स्वयम्भू ब्रह्म ने दर्शन दिए, अतः वे ऋषि हुए। परन्तु वेदसार की भूमिका पृष्ठ १५ में "ऋचा शब्द का संबन्ध ·········अर्व के सगोत्र ऋच् से है, और ऋषि में पाया जाने वाला √ ऋष् भी इसी अर्थ को ही कहता है।" ऐसा बताया गया है। यह कल्पना भी पूर्ववत् असंगत और प्रमाण-विहीन है। फिर वहीं पर इन ऋषियों को 'सन्त कवि' कहा है, जो कि युक्त नहीं।

इस प्रकार प्रायः जितनी भी बातें भूमिका में कही गई हैं—वह प्रायः प्रमाणहीन, निराधार, कपोलकल्पित और असंगत हैं। बड़े मजे की बात यह है, कि भूमिका पृष्ठ १८ और १९ पर कुछ मन्त्र नानाविध शब्दालंकारों और अर्थालकारों के दर्शाने के लिए दिए हैं, जिन्हें "चोटी का उत्तम काव्य कहा जा सकता है"—यह भी कहा है। आश्चर्य की बात है—कि, इन मंत्रों में से एक मन्त्र भी प्रस्तुत वेदसार में संग्रह नहीं किया गया। इस से क्या समझा जावे ? क्या यह उत्तम मन्त्र भी वेदसार में लिए जाने के योग्य नहीं थे ? या वेदसार इन उत्तम मन्त्रों के संग्रह के योग्य न था ? या भूमिका लिखने वाले को यह मन्त्र पसन्द आए, परन्तु वेदसार में मन्त्रों के संकलन-

कर्ता को यह पसन्द न आए ? अथवा संपादक को अलंकारों का समन्वय नहीं आता था ? यदि वेदसार में यह मंत्र होते, तो शायद अलकारों के विषय में भी कुछ लिखना पड़ जाता ? बीच से मन्त्र दरशाए जाते, तो भी कुछ न कुछ लिखना ही पड़ता। अतः वेदसार तथा भूमिका के संपादक चुपचाप कन्नी काट गए "न हो बांस और न बजे बांसुरी," न अलंकारों के उदाहरण बीच से दिए जावें और न ही बीच के मन्त्रों में अलंकारों का समन्वय करना पड़े ?

पृष्ठ २१ पर शाखा शब्द का भी कचूमर निकाला गया है। इसके लिए मेल खाने वाला कोई धातु ही नहीं मिला, जिसके साथ इस को सम्बद्ध किया जाता। शक्, शाक्, शख्, शाख्, शस्, शॅस्, शास्, शिष, शच्, शची, शश्, शशमान, सख्, साख् आदि में विना किसी पड़ाव के ही चलता हुआ यह धातु पंजाबी के 'साखी' शब्द में आकर मिल गया और वाङ मय वाचक साहित्य में साख्, साह् का रूप धारण कर गया, यह कौन सा भाषा-विज्ञान है ? किस सिद्धान्त से यह शब्द किधर से आया और कहां गया ? प्रमाण या युक्ति उदाहरण या समन्वय कुछ नहीं ? कह दिया, इस लिए ठीक है। परीक्षक ने भी इसे १९६३ की परिक्षा में पूछ दिया, वहां पर छात्रों की क्या दशा हुई होगी ? यह परिणाम ही बतावेगा।

कहां तक कहें ? क्या कहें ? और क्या न कहें ? यदि वेदसार सरीखी पुस्तकों में बताए गए ढंग से बेसिरपैर की कल्पनाएं प्रमाण बनने लगीं, तो फिर प्रमाण और युक्ति की आवश्यकता

ही नहीं है। वेदसार-परीक्षण पृष्ठ २१ पर उद्धृत हेलाराज की आशंका के अनुसार रोटी का अर्थ पानी और पानी का अर्थ जूता और जूते का अर्थ हाथ आदि ही मानना पड़ेगा। कोई भी शब्द किसी अर्थ विशेष को कहने में समर्थ नहीं होगा। संकेत पर आश्रित अभिधा-वृत्ति भी समाप्त हो जायगी और अभिधा न रहने से लक्षणा आदि का प्रसंग ही नहीं होगा। इस अनवस्था का भी कोई मर्यादा है? आखिर हेतु भी हैं और हेत्वाभास भी। यह न तो हेतु हैं और न ही हेत्वाभास।

यह पुस्तक क्यों परीक्षा में लगाई गई? इस से क्या ज्ञान मिल रहा है? यह देखना भी किसी का काम है या नहीं? यदि है, तो वह क्यों नहीं देखते?

इस प्रकार विशेष विचार के रूप में द्वितीय-पीठ सात अधिकरणों में समाप्त करते हैं। इस में वेदपाठ के परिवर्तन को मुख्य रूप में तथा शेष विषयों को प्रासङ्गिक रूप में विचार में लाया गया है। आशा है, पाठक वेदसार की अन्तः-स्थिति से परिचित हो गए होंगे। यदि हमारे विचार उचित हैं, तो इस पुस्तक को परीक्षा से तुरन्त हटा देना ही श्रेयस्कर है। यदि नहीं, तो हमें निर्देश करें, कि हम कहां किस गलती पर हैं।

द्वितीय पीठ समाप्त

वेदसार-परीक्षण

तृतीयपीठ

तृतीय पीठ के विषय :—

१५—वेदसार का संकलन तथा साहित्यिक परामर्शसमिति १६—वेदसार की हिन्दी १७—वेदसार और पंजाब विश्व-विद्यालय, १८ —M .A.का पाठ्यक्रम तथा संस्कृत बोर्ड का पुनर्गठन, १९—पहले प्रतिवेदन की प्रतिलिपि तथा पत्र-व्यवहार, २०—अपनी बात और मत-मतान्तर, २१—वेद-प्रेमी जनता से ।

१५—वेदसार का संकलन तथा साहित्यिक परामर्श समिति :—

वेदसार की प्रस्तावना पृष्ठ सात पर "३-उपस्थित-ग्रन्थ" में इसके संकलन का जो आधार व्यक्त किया है, वहां पर कुछ पंक्तियां यह हैं—"उपस्थित ग्रन्थ उक्त चारों वेदों के ही अन्दर से लिए गए, व्यक्ति और समाज के जीवन को समुन्नत करने वाली शिक्षाओं और प्रेरणाओं से भरे कुछ उत्तम मन्त्रों के संग्रह और अनुवाद के रूप में हैं। इसे (१) साध्यखण्ड, (२) साधन खण्ड और (३) सिद्धि खण्ड नामक तीन भागों में

अलग-अलग प्रकाशित किया जा रहा है। इन में से अभी साध्य-खण्ड ही प्रस्तुत हो पाया है।" इत्यादि।

(क) प्रथम तो इस प्रकार के संग्रह का नाम वेदसार रखना ही भ्रामक है। वेद को यदि पुरुषकृत भी माना जावे, तो भी यह चारों वेदों के रूप में सार ही हैं। वेद में एक अक्षर भी ऐसा नहीं है, जिसे असार कहा जा सके। कथञ्चित् यदि 'सार' शब्द को सहन भी किया जावे, तो भी प्रस्तुत ग्रन्थ को वेदसार नहीं कहा जा सकता, क्यों कि इस में न तो वेद के कर्म-काण्ड का कहीं पर रंच मात्र भी परिचय है और न ही ज्ञानकाण्ड या ब्रह्मकाण्ड का। वेद के देवता आदि तो इस पुस्तक में छू भी नहीं पाए हैं। फिर वेद के मूलमन्त्रों को ही वेदसार कह देना कहां की तुक है ? अनुवाद को तो सार नहीं कह सकते; इस प्रकार इस पुस्तक का वेदसार नाम भी भ्रमजनक ही है।

(ख) इसका साध्यखण्ड, साधनखण्ड तथा सिद्धिखण्ड नाम से विभाग करना भी संगत नहीं है। पहले साध्य, साधन तथा सिद्धि का स्वरूप या लक्षण बताना चाहिए। विना लक्षण के लक्ष्य ही क्या है ? लक्ष्यहीन होने से प्रस्तुत ग्रन्थ की गति भी लक्ष्यहीन ही हैं। ऐसी स्थिति में कहा जा सकता है –

"अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे।"

अन्धे के पीछे चलने वाले अंधे को बार बार गिरना ही पड़ता हैं।

(ग) १९५१ से १९६२ तक साध्यखण्ड ही चला आ रहा है। साधन और सिद्धिखण्डों का रूप कहां से स्पष्ट होता ? जब कि रूपरेखा ही कोई नहीं है। फिर यह विभाजन भी निराधार है, आज तक वैदिक यज्ञयागादि ही तो साधन बने रहे हैं, उन से यजमान के लिए स्वर्ग आदि साध्य रहा है और उसी की सिद्धि के लिए वह किए जाते थे। प्रस्तुत वेदसार में तो यज्ञयागादि की कहीं छाया भी नहीं है। ऐसी स्थिति में यह खण्डविभाजन भी भ्रामक ही है। जहां साध्य ही नहीं वहां साधन क्या और सिद्धि भी किस की, किस साधक को कैसे होगी ?

(घ) जब मन्त्रों का अनुवाद पढ़ो, तो वहां पर सभी मंत्र 'हमें यह दो,' या 'वह दो' आदि प्रार्थनाएं ही करते पाए जाते हैं। क्या यह सब मन्त्र साधक को भिखमंगा बनाने के लिए ही संग्रह किए गए हैं ? अनुवाद में वह स्फूर्ति आनी चाहिए थी, वह कर्म-परायणता की झलक आती, जिस से वैदिक साधक अधिकार-पूर्ण भाव से कहता हुआ पाया जाता और उत्साह से लक्ष्य-प्राप्ति करता। जैसे पहले मन्त्र का अनुवाद ऐसे होना चाहिए :—

"हमारे क्रतु (यज्ञ तथा संकल्प) प्रयोग में आने पर रमणीय हो कर अभिमुखभाव से हमें प्राप्त हों। वह सब ओर से सब के लिए अहिंसित, मर्यादायुक्त तथा विकासकर्ता हों। जिन से देवता हमारी सदा (स्वतः) वृद्धि करें और प्रतिदिन प्रमादरहित होकर (स्वतः) हमारे रक्षक रहें।"

इस मन्त्र में न कहीं धोखा है और न बाधा का ही भाव है। प्रत्युत 'अदब्ध' शब्द ठीक या उचित समय पर काय करने की प्रेरणा दे रहा है। 'अपरीत' शब्द काय का लम्बा विस्तार रोक कर मर्यादा में रहने का प्रेरणा दे रहा है और 'उद्भिद्' शब्द नवीन-अंकुर-रूपी नवीन-विकास की प्रेरणा दे रहा है। 'भद्र' शब्द आपातरमणीय कार्यों को रोकता है और परिणाम-रमणीय कार्यों के करने की प्रेरणा देता है। तभी तो यास्क कहते हैं।

"भद्रं भवद् रमयतीति"

भद्र वह है, जो होने पर आनन्द देवे। इसी प्रकार 'विश्वतः' पद से भी 'सर्वतः' की तुलना करनी आवश्यक हो जाती है, दोनों में छन्दस् की समानता है, परन्तु वेद में 'सर्वतः' के स्थान पर 'विश्वतः' का प्रयोग भावगर्भित है। इसका पीछे अर्थविचार में भी संकेत कर दिया गया है। अब पुनः लिखने से छपाई के खर्चा की ही चिन्ता है। यदि धनी मानी सज्जनों से उदार सहायता प्राप्त हुई, तो कभी वैदिक रहस्यों को खोलने वाला अनुवाद किया जायगा।

(ङ) वेदसार की भूमिका में भाषाविज्ञान के मौलिक सिद्धांतों पर विचार किए विना ही जिस शब्द को चाहे जिधर से बना डाला है। तुलना का कहीं नाम नहीं और न ही किसी अन्य परम्परा में चलते हुए शब्दों को यहां पर क्रमबद्ध उदाहरण के रूप में रखा गया है। इस से पाठक भ्रम में पड़ जाते हैं—कि, वेदसार का संकलन भाषाविज्ञान के आधार पर किया गया होगा?

परन्तु इस विषय में निःशङ्कभाव से यह कहा जा सकता है, कि वेदसार में कहीं पर भी भाषाविज्ञान को ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

(च) वेदसार के शीर्षकों की ओर अर्थ-विचार में संक्षिप्त रूप से कहा ही जा चुका है। यह शीर्षक भी प्रायः मनमाने तथा असंयत ही हैं। वेदों के सूक्तों तथा अध्यायों में एक पूर्णता है या प्रसंग है, जो कि आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधियज्ञ या आधिभौतिक अर्थविचार में निश्चित रहता है। यदि व्यत्यय को छोड़कर तथा याज्ञिकपद्धति के शाखादिकों को भी छोड़ कर मन्त्रों का स्वतन्त्र रूप से मनन किया जावे, तो वेद अद्भुत ज्ञान का प्रदान करते हैं। प्रस्तुत वेदसार नामक संग्रह में याज्ञिक विनियोगों आदि को छोड़ा अवश्य गया है, परन्तु वेदार्थ की विशेषता लाने वाला तत्व कुछ नहीं मिला। भिन्न २ स्थलों से एकत्र किए गए मंत्रों में भाव की पूर्णता भी नहीं हो पाई और वह शीर्षक भी किसी एक परम्परा वाले सम्बन्ध में नहीं हैं। इस से मंत्रों के प्रकरण तो नष्ट किए ही गए परन्तु शीर्षकों की संगति भी नहीं बन पाई।

वेदसार की साहित्यिक परामर्श समिति :—

वेदसार में साहित्यक परामर्श समिति के नाम भी यों ही रखे गए मालूम पड़ते हैं। उनमें से शायद ही किसी ने इस वेदसार को देखा हो। वेदसार परीक्षण छप जाने पर इस की वास्तविक स्थिति की जानकारी भी उन्हें हो जावेगी, ऐसी आशा है।

१६-वेदसार की हिन्दी :—

वेदसार की हिन्दी भी अपना एक विचित्र नमूना उपस्थित करती है। पीछे अनुवाद-विचार में 'हे जलो' और 'चढा चाहे' आदि उदाहरण रखे ही जा चुके हैं। उन के अतिरिक्त यदि शेष अनुवाद पर दृष्टि दी जावे तथा प्रस्तावना और भूमिका की हिन्दी पढ़ी जावे तो इस में और भी विचित्रताएं मिलेंगी, जो कि आज प्रयुक्त होने वाली हिन्दी में खटकने वाली हैं। पृष्ठ ७३ मन्त्र १४४ के अनुवाद में "वही (स्वाभाविक) मिठास मेरे अन्दर (अपने आप) उगमती रहे। २९।" इत्यादि ऐसे ही नमूने हैं।

वेद का अनुवाद करते हुए प्रायः संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग होना चाहिए। पीछे 'प्रतिष्ठा' तथा कवि आदि शब्दों पर किया गया विचार पाठक देख ही चुके हैं। यदि तत्सम और तद्भव शब्दों को हिन्दी में अपनाया गया होता और उन की विशद व्याख्या विभिन्न दृष्टिकोणों से जीवन के विभिन्न पहलुओं पर विचार करते हुए की जाती, तो निःसन्देह कुछ न कुछ वैदिक ज्ञान वेदसार में मिल जाता। अनुवाद में तत्सम और तद्भव शब्दों को प्रायः छोड़ दिया गया और नए शब्द जो रखे उनमें भाव की पूर्णता आ नहीं पाई। यह ध्यान रखना चाहिए था—कि, वेद के आविर्भाव से जो सोता वह निकला था, (देखें—भूमिका पृष्ठ १४) वही निरन्तर बहता चला आ रहा है और वही बहता चला जायेगा।

भूमिका पृष्ठ १४ 'कभी-कभार,' पृष्ठ १५-'कुच्छ' (दोबार), 'वेद-युगीन' 'वेदवार' आदि शब्द अपना विचित्र रूप ही प्रस्तुत करते हैं। मन्त्र ११६ में ऊरु का 'रानों' अनुवाद फारसी का है और फारसी में 'रान' शब्द जांघ का वाचक है।

पृष्ठ ६ पर 'विश्व-भर' और 'विश्व-विध' या पृष्ठ १३ पर 'विश्व-मानवीय' आदि प्रयुक्त शब्द कोई अलंकृत भाषा प्रस्तुत नहीं कर पाए। हां 'विश्व' शब्द यहाँ पर जबरदस्ती घसीटा हुआ अवश्य प्रतीत हो रहा है।

आज हिन्दी राष्ट्रभाषा बन रही है और राजभाषा का आसन ग्रहण करने जा रही है। वेद से जो सोता बहा था, वह भी हिन्दी में अविरत धारा से प्रवाहित हो रहा है। अतः वेद का अनुवाद करते हुए आवश्यकता इसी बात की है, कि तत्सम तथा तद्भव शब्द ही रखे जावें और उनकी व्याख्या टिप्पणों में कर दी जावे।

वेदसार में इस बात की ओर पूरा ध्यान रखा जाना चाहिए था कि अनवाद में मन्त्रार्थ जैसा आनन्द आता। परन्तु मन्त्रार्थ जैसा आनन्द तो मन्त्र का अर्थ स्पष्ट होने पर ही आ पाता। यहां पर वेदसार में शब्दमात्र बदलने से न वह अर्थ ही रहा और न भाव स्पष्ट हुआ। अतः वेदसार की हिन्दी को भी महत्त्वयुक्त नहीं कहा जा सकता। यह हिन्दी ऐसी लगती है जैसे राह चलते लोगों या गंवारों के लिए लिखी गई हो, जिन्हें न तो संस्कृतनिष्ठ हिन्दी से कोई वास्ता हो और न ही साहित्य की या और किसी प्रकार की रुचि हो।

१७-वेदसार और पंजाब विश्वविद्यालय :-

पंजाब विश्वविद्यालय को स्थापना सन् १८९५ ईस्वी में लाहौर में हुई थी और देशविभाजन के पश्चात् पुनः-स्थापना १९४७ में सोलन में हुई, अब यह विश्वविद्यालय चण्डीगढ़ में है। १८९५ से लेकर १९६२ की परीक्षाओं में संस्कृत M. A. के लिए किसी व्यक्तिविशेष के संग्रह को स्थान नहीं दिया गया। संस्कृत की M. A. में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद से सूक्त निर्देश कर दिए जाते रहे हैं। उन्हें छात्र Macdonell तथा Peterson आदि के संग्रहों से पढ़ लेते थे, या Griffith, सायण, दयानन्द आदि कृत भाष्यों अथवा अनुवादों के ग्रन्थों से पढ़ लेते थे।

१४ अप्रेल १९६१ को (P.U.) Board of Studies in Sanskrit की एक बैठक साधु आश्रम होश्यारपुर में हुई, जिस में प्रस्तुत वेदसार को ६३-६४ के लिए पाठ्य-पुस्तक बनाया गया। नीचे लिखे विद्वान् सदस्य उस बैठक में सम्मिलित थे—

१-प्रो. परशुराम, २—प्रो. टेकचन्द, ३—श्री के०के० धवन, ४—डा० डी० एन० शुक्ल, ५—डा० डी० डी० मेनन, ६—डा० परमानन्द (कन्वीनर), ७—आचार्य विश्वबन्धु (in the Chair) co-opted प्रो. जगन्नाथ अग्रवाल।

ज्ञात होता है कि संस्थान की प्रतिष्ठा तथा संचालक महोदय की तपस्या आदि के प्रभाव में सभी विद्वानों ने एकमत होकर वेदसार को M. A. के पाठ्यग्रन्थों में निर्धारित कर दिया। इस का Review आदि भी नहीं किया गया और किसी ने कोई आपत्ति भी नहीं की। Syllabus में यों लिखा है—

(a) Vedasara (Published by V. V. R. I. Hoshiarpur) 45. (Questions regarding Accent and compounds will be restricted towards actually found in the Vedic Text of the Vedasara.)

पाठक पिछले १६ अधिकरणों में वेदसार की स्थिति वाह्य तथा अन्तः परीक्षण दोनों रूपों में देख ही चुके हैं। अभी १९६३ की परीक्षा में जो प्रश्नपत्र आया है, वह भी इस नवीन Syllabus के अनुसार ही है। इसमें केवल छन्दोविषयक दो टिप्पण ऐसे हैं, जो वेदसार के पाठकों के लिए कुछ दुरूह रहे होंगे। परीक्षक ने पदपाठ भी नहीं पूछा और वैदिक देवतावाद. यज्ञयाग तथा भाषाविज्ञानादि पर भी कोई प्रश्न नहीं पूछा । मन्त्र भी प्राय: वे ही पूछे, जिनका पाठ भ्रष्ट नहीं था। परीक्षक ने इन सभी प्रश्नों में अपनी विद्वत्ता का भी परिचय दिया और प्रश्नों में गड़बड़ी को भी बचाया । इसके लिए परीक्षक महोदय साधुवाद के पात्र हैं । परन्तु छात्रों ने वेद के विषय में क्या पाया ? यह छात्र अपनी पढ़ाई से अनुभव कर लेवें, तथा विज्ञ पाठक हमारे इस लेख के आधार पर वेदसार का आलोड़न करके देख लेवें।

इसके साथ ही एक अन्य बात भी ध्यान में देने योग्य है। वह १९६२की परीक्षा की है। १९६२में(M.A. Part II, Paper III) वेदग्रुप का जो परचा था, वह १९६१ जैसा ही था, परन्तु उस पर वह तूफान खड़ा हुआ, कि छात्रों के परिणाम ही दो मास बिलम्ब से प्रकाशित हुए। अब पाठ्यक्रम में वेदसार एक ऐसी पुस्तक रखी

गई है, जिस में कई स्थलों पर मूलपाठ अशुद्ध किया गया है, कुछ स्थलों पर व्याकरण में भी विसंवाद है, अनुवाद स्वच्छन्द है ही और अन्य बातें भी वैसी ही हैं।

जनवरी १९६३ में विश्वविद्यालयीय संस्कृतविभाग की जो गृहपरीक्षा हुई थी, उसमें मन्त्र ७९ पूछा गया था। इस मन्त्र में पीछे बताया ही जा चुका है कि निर्दिष्ट ऋग्वेद के पाठ से इस का भेद है। वेदसार का दूसरा पाद ऋग्वेद में तीसरा है और तीसरा पाद दूसरा। इसी प्रकार यदि पीछे बताए गए पाठपरिवर्तन वाले मन्त्रों में से कोई मन्त्र कभी परीक्षा में पूछा गया, तो छात्रों या परीक्षक में भी संगति नहीं बैठेगी और न ही Internal तथा External परीक्षक एकमत हो पाएंगे। अतः इन सभी विवादों का एकमात्र हल है, वेदसार को तुरन्त हटा देना, और पूर्ववत् सूक्तों का निर्धारण करना। वह निर्धारित सूक्त विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान की ओर से छाप देने की व्यवस्था कर दी जावे, इससे संस्थान की आय का भी अन्तर नहीं पड़ेगा और छात्रों की भी विपत्ति की आशंका टल जावेगी, जिससे छात्र सूक्तों का तुलनात्मक अध्ययन करेंगे।

१८-M.A.का पाठ्यक्रम तथा संस्कृत बोर्ड का पुनर्गठन :—

वेदसार की स्थिति पाठकों ने बहुत कुछ देख ली। यही दशा आजकल (६३-६४) पूरे M.A. (तथा अन्य संस्कृत की परीक्षाओं) के

पाठ्यक्रम की भी है। वेदसार के साथ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका को रखा है, इसके कुछ प्रकरण ही निश्चित हैं, इन प्रकरणों के पाठ्य विषय लगभग ३०० पृष्ठों के हैं, परन्तु इन ३०० पृष्ठों के लिए अङ्क केवल १५ हैं। यास्क के निरुक्त के प्रथम तीन खण्ड तथा बारह से बीस खण्ड और दूसरे अध्याय के प्रथम चार खण्ड मात्र परीक्षा में पाठ्य हैं, इन के केवल दस अङ्क हैं। इसके साथ ही वेदिक ग्रामर (मैकड़ानल) ३० अंकों की है। द्वितीयपत्र ठीक है परन्तु, तृतीयपत्र में पूरी लघुसिद्धान्त कौमुदी के साथ तर्कसंग्रह और साङ्ख्यकारिका या वेदान्तसार है। व्यवहार में यह आया है कि छात्र न तो लघु-सिद्धान्त कौमुदी ही पढ़ पाए और न वैदिक ग्रामर ही पूरी कर पाए। इस पर किसी ने भी यह विचार नहीं किया, कि M. A. प्रथम वर्ष में लगभग छः मास ही पढ़ाई होगी। उस में छात्र कोर्स को पूरा कैसे करेंगे ? B.A. तक छात्रों की संस्कृत के विषय में पृष्ठ भूमि इतनी दृढ तो बनी नहीं होती, जो इन ग्रन्थों को वह समझ सकें या इनके Notes ले सकें। अतः यह असन्तुलित पाठ्यक्रम संस्कृत के छात्रों के लिए एक नई विचित्र समस्या ही बना रहा है। तथापि परीक्षकों ने बुद्धिमत्ता से काम लिया अतः कोई विशेष समस्या खड़ी नहीं हुई। हां, प्रथम पत्र की शिकायत सुनने में आ ही रही है, उसमें भी प्रश्नपत्र बहुत अच्छा बना था। वेदसार में छात्रों ने अध्ययन की सामग्री नहीं पाई और पाठ्यक्रम उपयुक्त न था, अतः शिकायत होना स्वाभाविक ही है।

प्रतिवर्ष पाठ्यक्रम की शिकायत भी होती है और प्रश्न-पत्रों पर भी विवाद होता है। इससे यह निश्चित हो जाता

है, कि संस्कृत का पाठ्यक्रम बनाते समय संस्कृत बोर्ड के सदस्यों में कहीं न कहीं कमी अवश्य रह जाती है, इस का अन्वेषण होना ही चाहिए।

हमारी समझ में दो बातें आती हैं, पहली यह—कि संस्कृत वाङ्मय बहुत पुराना है, अतः इसके ग्रन्थ प्रसिद्ध होने से सदस्य लोग विशेष गवेषणा नहीं करते हों। दूसरी यह—कि संस्कृत बोर्ड के सदस्यों में प्राचीन परम्परा से प्रशिक्षित विद्वानों का अभाव ही है। तभी ऐसी २ भूलें भी हो जाती हैं, जिन्हें कोई भी व्यक्ति क्षम्य नहीं मानता। जैसे—वेदाचार्य(II) १९६२ के सिलेबस में ऐतरेयब्राह्मण की ७ से १० पञ्चिकाएं रखी गई थीं, जबकि इस ग्रन्थ में कुल ८ ही पञ्चिकाएं हैं। इसी प्रकार साहित्याचार्य १९६२ में रसगङ्गाधर के प्रथम दो 'उल्लास' रखे गए, जब कि इस में 'आनन' हैं। अब पता चला है, कि तैत्तिरीयसंहिता में अध्याय-निर्दिष्ट किए गए हैं, जब कि उसके काण्डों में प्रपाठक अनुवाक और कण्डिकायें होते हैं। ऐसी मोटी भूलें पुस्तकों के न देखने से ही होती हैं।

अतः आवश्यकता भी दो बातों की है, पहली यह—कि अन्य बोर्डों की भांति संस्कृत की पुस्तकें लगाते हुए पुस्तक का Review अवश्य कराया जावे और दूसरी यह—कि संस्कृत बोर्ड की सदस्यता के लिए शास्त्री तथा आचार्य के अध्यापन को भी योग्यता में गिन लिया जावे। वहां पर Degree teachers के सामान्य निर्देश में संस्कृत के लिए शास्त्री तथा आचार्य के अध्यापकों को भी बोर्ड की सदस्यता के लिए अर्हता दी

जानी चाहिए। यह केवल शब्दों का ही फेर है—शास्त्री तथा आचार्य कक्षाओं में प्रवेश के लिए M.A. की परीक्षा विशारद की भांति Minimum qualification है, अतः छः सदस्यों के संस्कृत बोर्ड में शास्त्री तथा आचार्य के अध्यापक भी कम से कम दो अवश्य लिए जाने चाहिए, यदि अनुपात निश्चित न करना हो, तो भी शास्त्री तथा आचार्य के अध्यापनानुभव को मान्यता देने से काम चल सकता है, इससे संस्कृत भाषा के विद्वान् भी संस्कृत बोर्ड में योग दे सकेंगे और बहुत सी आपत्तियों का निवारण भी हो जावेगा।

१६-पहले प्रतिवेदन की प्रतिलिपि तथा मेरा पत्र :—

मुझे ४-६-१९६२ को वेदसार शैक्षणिक संस्करण की प्रति V.P.P. द्वारा प्राप्त होने पर जो प्रतिवेदन मैं ने नीरक्षीरविवेक-निपुण श्रीमान् उपकुलपति महोदय पंजाब विश्वविद्यालय चंडीगढ़ की सेवा में १५-९-६२ को प्रस्तुत किया, तथा श्रीमान् विश्वबन्धु जी की सेवामें जो ६-१०-६२ को पत्र लिखा था, उन दोनों की प्रतिलिपि :—

मेरा पहला प्रतिवेदन

To

The Vice-Chacellor,
Panjab University,
Chandigarh-3.

Sir,

This is to bring to your kind notice the fact, that the Vedasaara, recently prescribed for M. A. in Sanskrit is not a suitable text book for the following reasons :—

1. It is not a representative selection of the Vedic Literature as it barely touches a few topics. Even they are not connected with the Vedic rituals and deities etc. which have a very important bearing upon all Vedic lore.

2. It is a collection of Subhaashitas, i.e. good sayings, which cannot take the place of suitable representation and deeper significance of hymns from the Vedas.

3. (a) The selection of stray stanzas, taken out of context, lacks unity of thought. In this collection, the Mantras are selected at random and placed under fancied headings convenient only to its compiler.

(b) No reference is made to Rishi, Chhandas or Devataa, the knowledge of which is considered most essential in the study of the Vedic Literature.

4. A text book designed to develope a critical outlook regarding the interpretation of Vedic texts, should give different views of traditional scholars like Saayana and others, as also of the modern European scholars. This is a grave omission in this book.

5. Even in the latest (academic) edition, the compiler has not included any verses regarding the Saadhan Khanda and the Siddhi Khanda. There is only the Saadhya Khanda in the book, but in the preface at page 7, he prominently mentions the inclusion of these three Khandas.

6. The latest edition of August 1962, meant for students is not of much instructional value. Its Hindi translation is very free. This free randering is of very little academic worth. The introduction and notes on accent and Vedic Grammar are sketchy, inadequate and unintelligible to the students for whom this book is meant.

7 (a) The editor of the Shaiksanik Sanskaran has been very fanciful and almost irresponsible in suggesting derivations of Vedic words unsupported by tradition and unacceptable to scholars. For instance, the words like Veda, Mantra, Shaakha, Saama, Krishna, Aaranyaka and Vedaanta etc. have been unauthentically and uncritically associated with unconvincing etymologies (see pages15, 16, 21, 22, 29, 30, 32 and 35). To equate Veda with Punjabi Beed, Mantra with √ Pan, Shaakhaa, with Saakhi, Shiksaa, with

Shisyaa. Krishna with Krisara or Krishara, Aaranyaka with Arth or Ardh and so on, seems nothing but a result of wishful thinking. These are some of the curious unrecognised derivations which need the authority of Nirukta and Vyaakarana. Otherwise these derivations would mislead the poor students in their pursuit of Vedic learning.

(b) Vedasaara is not edited linguistically, I mean thereby that there is graded development of Sanskrit, traceable in Vedic texts, not refelected in the present compilation. Some Vedic texts are held anterior in composition to other parts of Veda for reason of grammar and vocables. Some sections of Atharva Veda for instance are held of much later period due to employment of vocables which had frequent appearance in classical Sanskrit Literature. There is serious omission of this linguistic record in the book under reference.

8. (a) The method of putting accent upon words is also novel and incomplete. It has also mistakes as in stanza 35, **Na** (**Udatta**) instead of **Nah** (**Anudatta**) and in stanza 47 **sa** (**Anudatta**) **for sa** (**Udatta**) etc.

(b) No Padapaatha is given, with the Mantras, although this is most important for students of veda.

(c) The text is also full of mistakes, and no

heed has been given to correct the mistakes even in its revised edition e. g

Stanza 47 **Paraspaanah for Parasphaanah.**
,, 72 **Indraah Puruhoota for Indraapuruhoota.**
,, 103 **Bhavantyagnayah for Bhavantvagnayah. etc.**

(d) The correction-**tipustah** in the place of —**nibhristah** made in the stanza 116 is neither suitable nor authoritative and is likely to injure the feelings of the sanctity for and faith in the unchanging authorities of the Vedas. The underlying wider sence is confined and the metre is also effected bitterly by putting in -**ngaani**, which is not found in the Atharva Veda text 19. 60. 2. Cf. T.S.V. 5.9.3. Par. Gr. 1.3. and T.A. Par. 72.

9. The translation is convenient and uncritical and reflects mostly the thinking of the translator. To develope a comparative outlook the Saayana and other important Bhaashyas should accompany such Vedic texts. If the Hindi translation given in the Vedasaara were carefully examined, a separate book could be prepared.✧ The present translation is rather free and loose and is not in any measure a scholarly attempt.

In my opinion, it has not been critically

✧ The present book "Vedasaar Pariksan" has since been writton.

reviewed by the Board of the Sanskrit studies.

In view of the above, I would suggest, that, the University would be well-advised to prepare its own text of Vedic Literature on the lines of Peterson's 'Selections of Hymns from Rigveda' or Macdonell's 'Vedic Reader'. Such a work alone can prove helpful to a student of the Vedic Literature. I hope you will kindly consider my submissions, keeping in view the University teaching standards and its prestige, both of which shall be lowered if the Vedasaara continues to be a course of studies for the M. A. classes.

I beg to request you to grant me an interview, so that I could explain to you certain such aspects of this book, as no scholar would accept them as authentic.

Thanking you,

Yours faithfully,

(Madan Mohan Sharma)
Pandit, Sanskrit Department
Panjab University,
Chandigarh-3.

Dated—September 15, 1962.
October 3/4, 1962.

मेरे पत्र की प्रतिलिपि

(इस पत्र की प्रतिलिपि श्रीमान् उपकुलपति महोदय, पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़, श्रीमान् अध्यक्ष महोदय संस्कृत विभाग, तथा श्रीमान् कन्वीनर महोदय संस्कृत बोर्ड की सेवा में प्रेषित)

सेवा में
श्रीमान् विश्वबन्धु जी,
संचालक, वि० वै० शोध संस्थान,
साधु आश्रम, होशियारपुर ।

श्रीमन्,

आपके पत्रांक संख्या १।३०(५) ६३९७ दिनांक २७ सितम्बर, १९६२ का उत्तर यथासमय दिया था । अपने प्रतिवेदन की प्रति भी अक्टूबर ४, १९६२ को तैयार होने ही आपकी सेवा में भेज दी थी। आप को वह मिल चुकी होगी और आप उस पर विचार भी कर चुके होंगे। उस का उत्तर यदि भेजें, तो मुझे भी प्रति भेज देने की कृपा करें।

यह प्रतिवेदन सक्षिप्त रूप में तैयार किया गया है। आप की जिज्ञासा होने पर वेदसार की शेष सामान्य भूलें भी आप की सेवा में प्रस्तुत कर दी जावेंगी, ताकि आप को पुस्तक में शुद्धि-पत्र लगाने की सहायता हो जावे । आशा है आप मेरे इस कार्य से प्रसन्न ही होंगे, क्योंकि यह विद्या वृद्धि में सहायक है ।

आपको यदि मेरी आलोचना मान्य न हो, तो आप मेरी आलोचना सहित वेदसार की प्रति भेजकर विद्वानों की सन्मति ले लेंवे, या मुझ से विमर्श कर लेवें।

यदि आपको मेरे सुझाव मान्य हैं तथा आप इस स्पष्ट-वादिता के कारण मेरा सहयोग चाहते है, तो पुस्तक के कलेवर के पुनर्निर्माण में मैं आपको पूर्णतः योगदान करूंगा। ऐसा करने से छात्रों को वेदविषयक ज्ञान भारतीय परम्परा से भारतीय भाषा में प्राप्त हो सकेगा। आप जानते ही हैं, कि मेरा लक्ष्य वेदविद्या का यथार्थ प्रतिपादन तथा प्रसार ही है। धन्यवाद। कृपा बनी रहे।

भवदीय :—

दि० ९ अक्टूबर १९६२ (मदनमोहन शर्मा)
डी० ५०, सैक्टर १४,
चण्डीगढ़—३.

[पाठकों के लिए विशेष :—इसके अतिरिक्त भी कई पत्र लिखे हैं, परन्तु उत्तर प्राप्त होने का सौभाग्य नहीं हुआ।]

२०-अपनी बात और मत-मतान्तर :-

मैं ने १५-९-६२ को वेदसार के विषय में विप्रतिपत्तियों को प्रकट करने वाला प्रतिवेदन श्रीमान् उपकुलपति महोदय

पंजाब विश्वविद्यालय चण्डीगढ, की सेवा में प्रस्तुत किया। उसके कुछ समय बाद ही मेरे विरुद्ध कई प्रकार की बातें कही जाने लगीं, उनके विषय में भी मैं कुछ कह देना उचित ही समझता हूं। यद्यपि मैं इस प्रकरण को छोड़ सकता था, क्यों कि भवभूति ने कहा है—

"सर्वथा व्यवहर्तव्य कुतो ह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः॥"

अर्थात् सर्वथा व्यवहार करते ही जाओ, निन्दा न हो—ऐसा कैसे हो सकता है? जैसे साध्वी स्त्रियों के सम्बन्ध में भी लोक-निन्दा शीघ्र होने लग जाती है, वैसे ही साधुवाणी पर भी दुर्जन व्यक्ति आक्षेप करते ही हैं। मैं भवभूति की इस उक्ति के अनुसार किसी को दुर्जन कहना नहीं चाहता, इस कारण मेरे सम्बन्ध में जो बातें बीच के लगभग छः मासों में मैं ने सुनी हैं, उन के विषय में कुछ कह देना ही उचित समझता हूं।

(क) मुख्य रूप में मेरे विषय में तीन बातें कही गई हैं—

१—वेदसार के विरुद्ध लिखने के लिए मुझे किसी ने उकसाया है।

२—मेरा श्री विश्वबन्धु जी से तथा उनके संस्थान से पूर्वविरोध है।

३—मैंने किसी स्वार्थवश ऐसा किया है। (वह स्वार्थ मेरे साथ दो प्रकार से जोड़ा जाता है। एक तो यह पुस्तक हटाकर अपनी

पुस्तक को लगाना और दूसरे है डपण्डित बनने का प्रयास करना)।

इन तीनों के विषय में मेरा संक्षिप्त उत्तर यह है—

१. मुझे उकसाने वाला कोई नहीं है। यदि मुझे कोई उकसाता, तो शायद मैं अब तक चुप हो जाता। मेरी गति-विधि बहुत ही स्वाभाविक है तथा मैं इस बात का पूरा ध्यान रख रहा हूं कि मेरे किसी कार्य से संस्थान को या श्री विश्वबन्धु जी को किसी प्रकार की क्षति न हो। इसी कारण मैं ने उन्हें पत्र लिखे हैं और उन पत्रों में सदा सहयोग देने का प्रयास किया है।

२. मुझे श्री विश्वबन्धु जी से तथा विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध संस्थान से किसी प्रकार का कोई विरोध नहीं है। मैं वहां पर कार्य करता रहा हूं आज भी वहां का सदस्य हूं और वहां पर आता जाता हू। (कार्य करते हुए १९४९ में ९ अप्रेल से १६ अप्रेल तक वहां मेरा एक शास्त्रार्थ अवश्य हुआ था परन्तु वह वाग्विलास मात्र था।) मैं ने ३ जुलाई १९४९ को वहां से अवकाश अस्वीकृत होने पर पहली बार त्यागपत्र दिया था और ६ मार्च १९५५ को पारिवारिक विपत्ति के कारण डेढ़ मास का नोटिस देकर २०अप्रेल १९५५ को दूसरी बार उक्त संस्थान का कार्य छोड़ा। दोनों बार ही कार्य छोड़ने के अनन्तर मेरी ओर से ऐसा कोई कार्य नहीं हुआ, जो कि हमारे अन्दर किसी प्रकार की कटुता लाता या किसी रूप में कटुता प्रकट करता। अभी भी वेदसार-परीक्षण को पढ़ने से पाठकों को विदित होगया होगा, कि मेरा व्यक्तिगत रागद्वेष इस कार्य में तनिक भी नहीं है, वैदिक वाङ्मय के प्रति उपेक्षा मुझे अवश्य सह्य नहीं है। उसी पर मैंने यह

सब कुछ लिखा है। अपनी ओर से मैं ने अपने भाव व्यक्त कर दिए हैं और श्री विश्वबन्धु जी स्वयं या संस्थान की ओर से भी मेरे प्रति द्वेष नहीं रखते हैं—ऐसा मैं समझता हूं। मैं ने सदा ही ऐसी भावना पाई है, यदि उन के मन में कोई ऐसी बात हो, तो मैं कुछ कह नहीं सकता। क्यों कि राग-द्वेष दोनों ओर से ही हो सकते हैं एक तरफ से राग होने पर भी दूसरी ओर से द्वेष हो सकता है और एक ओर से द्वेष होने पर भी दूसरी ओर से राग हो सकता है। इसके लिए प्रमाण के रूप में वेद-वाक्य तथा भर्तृहरि का श्लोक उद्धृत कर देता हूं। वेद में बहुत स्थानों पर कहा है—

'योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः।'

अर्थात् जो हम से द्वेष करते हैं और जिनसे हम द्वेष करते हैं, इससे द्वेष के निमित्त दोनों द्वेषियों की ओर से भिन्न ही स्पष्ट होते हैं। एक ओर से द्वेष होने पर दूसरे की ओर से द्वेष नहीं भी हो सकता। इसी प्रकार राग (प्रेम) की भी गति है। जब राजा भर्तृहरि को वैराग्य हुआ, तो उस में कारण उनकी रानी का दूसरे के प्रति प्रेम और उन के प्रति द्वेष ही था। जिस पर उन्हों ने कहा—

"यां चिन्तयामि सततं मयि सा विरक्ता,
साऽप्यन्यमिच्छति जनं स जनोऽन्यसक्तः।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या,
धिक् तां च तं च मदनं च इमां च मां च॥"

मैं जिस (रानी) की चिन्ता करता हूं वह मुझ से विरक्त है। वह किसी और पुरुष को चाहती है और वह पुरुष

किसी और स्त्री की ओर आसक्त है। हमारे लिए कोई अन्य स्त्री प्रसन्न होती है। इस कारण उस (रानी) को, उस (पुरुष) को, मदन (कामदेव) को, इस स्त्री को और मुझ को (सभी को) धिक्कार है।

दोनों उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि हम तो चाहते हैं, परन्तु दूसरा न चाहे तो हमारा क्या दोष? इसी प्रकार हम तो द्वेष नहीं करते परन्तु अन्य द्वेष करता है, तो इस में भी हमारा क्या दोष ?

परन्तु इतना स्पष्ट है कि मेरा कोई द्वेष नहीं है और न हो मेरे द्वेष से किसी प्रकार की हानि श्री विश्वबन्धु जी को या संस्थान को हो सकती है। मुझ जैसा सांसारिक प्राणी किसी का कुछ न बिगाड़ सकता है और न ही बना सकता है। हां, अपना चाहे कुछ बिगड जावे।

३—तीसरी बात मेरे स्वार्थ की है। वेदसार के हटने से मेरा कोई स्वार्थ सिद्ध नहीं होता। मेरी कोई पुस्तक नहीं है और न ही मेरा किसी पुस्तक विक्रेता से कोई सम्बन्ध है। अब तक मैं ने जो सुझाव दिए हैं, उन में भी कहीं कोई ऐसा भाव नहीं है।

रह गई हैडपण्डित वाली बात। यह स्थान रिक्त अवश्य है और स्थान होने पर मैं ने पूर्वकाल में ऐसी प्रार्थना भी की थी। परन्तु आज तो इस प्रकार का कोई अवसर नहीं है। न ही स्थान की चर्चा है और न ही आवश्यकता निकली है। अब यह कहानी पुरानी हो चुकी हुई है। यदि

ऐसा भाव होगा, तो उसके अनुकूल प्रयास करने से मेरी सफलता होगी। इस प्रकार किसी के विरोध में लेख लिखने से या आलोचना मात्र करने से मुझे हानि की ही आशा है पदवृद्धि को कोई आशा नहीं। फिर इस प्रकार के लेख से ही अधिकारी मेरे लिए ऐसा क्यों करेंगे ? क्यों कि. यदि मैं अयोग्य हूं ? तो मुझे हैड पण्डित बनाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता और यदि मैं योग्य हूं तो भी इस की चिन्ता मुझे क्यों हो ? संस्कृत की उक्ति है—

"कनकभूषणसंग्रहणोचितो यदि मणिस्त्रपुणि प्रतिबध्यते।
न स विरौति न चापि स शोभते भवति योजयितुर्वचनीयता॥"

सोने के गहने में मढने के योग्य मणि को यदि लाख में मढ दिया जावे, तो इस से वह मणि न रोती है और न ही शोभा देती है। प्रत्युत ऐसा करने पर मढने वाले (सुनार) की ही निन्दा होती है।

साथ ही जब मैं अपने पुराने जीवन पर ध्यान देता हूं, कि जब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में छात्र था, तो १९४४ अगस्त में मुझे वहां पर अध्यापक बनने के लिए कहा गया था, और १५०) रु० मासिक तक वेतन भी कहा गया था, जब कि उस समय वहां पर संस्कृत महाविद्यालय के अध्यापकों के वेतन ६०+४=१२० थे और तब वहां प्रिंसिपल का ग्रेड २००+१०=३०० था। यदि मैं वहां पर उस समय रह जाता, तो आज संभवत: १०००रु० लगभग मासिक वेतन पाता।

पुन: १९४९ में पंजाब विश्वविद्यालय में द्वितीय पण्डित का स्थान रिक्त था, तब मेरा नाम यहां पर चुनाव कमेटी

ने तीन नामों में चुना था। उस समय के वाइस-चांसलर महोदय ने मुझे बड़े सुन्दर ढंग से कहा था-कि, "इस बार हम महा-महोपाध्याय पण्डित परमेश्वरानन्द जी को यह स्थान देना चाहते हैं, पाकिस्तान बनने से वह बड़ी विपत्ति में हैं। तुम नवयुवक हो, अभी तुम्हें क्या चिन्ता है?" तब उनको ही रखा गया और मुझे अब उन के रिटायर होने पर यहां स्थान मिला।

यह पुरानी बातें हैं। कहना नहीं चाहता था, परन्तु तरह-तरह की उक्तियां सुनकर लिखनी पड़ गईं।

मुझे यहां पर हैडपण्डित बनाया जावे या नहीं? परन्त इतना स्पष्ट है कि पंजाब में संस्कृत की प्राचीन पद्धति को प्रतिष्ठित करने के लिए पंजाब विश्वविद्यालय को न केवल हैड-पण्डित ही रखना पड़ेगा, प्रत्युत प्राचीन संस्कृत का विभाग भी पृथक् प्रतिष्ठित करना पड़ेगा। जब तक प्राचीन संस्कृत की पद्धति को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता, तब तक संस्कृत भाषा का अध्ययन ठीक नहीं हो सकता और न ही भारतीय संस्कृति का तत्त्व जाना जा सकता हैं।

(ख) इसी अधिकरण में दूसरी वात मुझे मत-मतान्तर की भी कहनी है। मेरे विषय में यह कहा जाता है, कि एक तरफ मैं सनातनधर्म को मानता हूं, तो दूसरी तरफ मेरा झुकाव आर्यसमाज की ओर है। जब मुझ से कोई पूछता है तो मैं स्पष्ट कहता हूं, कि हमारा राज्य Secular (=धर्मनिरपेक्ष) है, तो मैं सर्वधर्मी हूं।

आज हम देखते हैं। कि धर्म को लोग मानते है, जानते नहीं। आर्यसमाज और सनातनधर्म का विरोध हमारे बचपन में रहा होगा। आज वह विरोध हमें दृष्टिगोचर नहीं होता। सनातन-धर्मी कन्याशिक्षण, विधवाविवाह तथा अछूतोद्धार के विरोधी थे—वह सभी कुछ अब सभी मान चुके हैं और हो रहा है। आर्य समाज मूर्तिपूजा और श्राद्ध आदि का विरोधी रहा है। श्राद्ध आदि प्रायः कम हो चुके और मूर्तिपूजन को मानव कभी छोड़ नहीं सकता। वह चाहे मन्दिरों के रूप में हो चाहे और किसी रूपमें और चाहे संग्रहालयों में हो। अतः इन दोनों का व्यवहारमें परस्पर विरोध मिट चुका है। जैन तथा बौद्ध भी "मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि" प्राणियों की हिंसा मत करो—आदि के अनुयायी होने के कारण हम से भिन्न नहीं हैं। सिख तो अविभाज्य हैं और धर्म की रक्षा के लिए बने हैं, ग्रन्थसाहब उपनिषदों के वाक्यों का रूपान्तर ही तो है। इसी कारण एक बार मुझ से जब एक मान्य पुरुष ने पूछा था, कि तुम सनातनधर्मी हो या आर्य समाजी ? तो मैं ने उत्तर दिया था, 'मैं सर्वधर्मी हूं।" जहां पर मैं दयानन्द ब्राह्म-महाविद्यालय (लाहौर) शामचौरासी का आचार्य (प्रिंसिपल) तथा D. A. V. College for Women करनाल का Prinicipal रहा हूं, वहीं मैं तीर्थदेवस्थान समिति कुरुक्षेत्र का प्रधान भी रहा हूं। धार्मिक स्थानों का सुधार तथा सदुपयोग हम चाहते हैं, उनकी स्थिति हम मिटाना नहीं चाहते। इसी कारण ग्रहण तथा कुम्भ आदि के अवसरों पर वहां पर आर्य समाज आदि के कैम्प भी लगते हैं। फिर मैं ने तो वेदाचार्य किया है यदि मुझ से सनातनधर्मी वेद की

बात पूछें तो मेरा कर्तव्य है कि मैं उन्हें ठीक बताऊ, यदि आर्य-समाजी पूछें तो उन्हें भी ठीक बताऊं। अन्य कोई पूछे तो उसे भी ठीक बताऊं। वेद आदिवाङ्मय होने से सभी के हैं। वेद से ही सभी विद्याओं और मतों का विस्तार हुआ है। अतः हमें किसी एक मत के पन्थो नहीं बनना चाहिए, परन्तु धर्मों को वेदावलम्बी बनाते हुए चलना चाहिए।

विधर्मियों के लिए भी वेद संसार का आदि ग्रन्थ होने के कारण मान्य हैं, अतः धर्मशास्त्र के अनुसार हमारा धर्म है—

"श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः"

वेद, धर्मशास्त्र, सत्पुरुषों का आचार तथा अपने लिए प्यारी वस्तु ही धर्म है (और हमारे लिए मान्य हैं)। किसी एक सम्प्रदाय के अनुगामी हम भारतीय नही हैं और न ही हम ने ऐसा करना सीखा है। तभी व्यास जी ने कहा—

"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पन्थाः।"

धर्म का तत्त्व गुहा में निहित है जिस मार्ग पर महा-पुरुष चलें, वही धर्म है, और "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।" परोपकार से पुण्य होता है, तो दूसरों को पीड़ा देने से पाप होता है। अतः धर्म के अनुसार विवेक से ही उचित या अनुचित का निर्णय करना श्रेयस्कर है और यही मार्ग सच्चे धर्म का है। हम इसी के अनुयायी हैं, और वेद हमारे मान्य हैं।

२१-वेदप्रेमी जनता से:-

(क) श्री विश्व बन्धु जी की सेवा में—

श्रीमन्,

आप ने जिस वेदप्रेम से अपना जीवन ही वेद के हेतु अर्पण कर दिया। विदेश जाने की छात्रवृत्ति को ग्रहण नहीं किया और विवाहित जीवन को भी नहीं अपनाया। अन्य कई प्रकार के सम्मान भी छोड़े। आपके संचालित संस्थान में कई विद्वानों ने आश्रय पाया और पा रहे हैं। मुझे भी लगभग सात वर्ष तक वहां पर कार्य करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। मैं उसी भाव से आज आपकी सेवा में यह निवेदन कर रहा हूं, कि वेदसार में वेदों के प्रति बरती गई उपेक्षा को आप स्वीकार करें और १६५१ तथा १९६२ वाले संस्करणों को रद्दी कर देवें। इस वेदसार से आप को व्यक्तिगत, सामाजिक, शिक्षाविषयक या अन्य किसी प्रकार का कोई भी लाभ नहीं है और न ही कोई लोभ है। यह पुस्तक आपकी कीर्ति में शोभन नहीं है—मुझे आपके वर्तमान मान से भावी मान तथा भौतिकशरीर से यशःशरीर अधिक जंचता है। कालिदास के रघुवंश में (गौ के हत्यारे) सिंह से राजा दिलीप ने कहा था—

"यशः शरीरे भव मे दयालुः"

तुम मेरे यशोरूपी शरीर की रक्षा करो। इसी प्रकार मैं भी आप से निवेदन करता हूं कि—

"यशः शरीरं तव चिन्तयामि"।

मैं आपके यशोरूपी शरीर की चिन्ता कर रहा हूं। जैसे प्राचीन बड़े २ आचार्य आज कालकवित हो चुके हैं, वैसे ही हम सब भी हो जावेंगे, अतः साहित्य जगत् में हमारी ओर से ऐसा कोई कार्य नहीं होना चाहिए, जो कि उपेक्षा-पूर्ण हो। मैं आपका सहयोगी रहा हूं और सहयोगी हूं, परन्तु मैं इस सिद्धान्त का मानने वाला हूं, कि —

"शत्रोरपि गुणा वाच्या दोषा वाच्या गुरोरपि।"

शत्रु के भी गुण वर्णन करने चाहिए और गुरू के भी दोष कह देने चाहिए। तथाच कहा जाता है, कि —

"गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥"

यदि गुरू भी अवलेप से कार्य तथा अकार्य का विवेक नहीं करे और उल्टे रास्ते पर चल पड़े, तो उसका परित्याग कर दिया जाता है। अतः आप प्रस्तुत वेदसार को रद्दी करें—इसमें 'पादयोः प्रतिष्ठा' पाठ बदल देने से प्रतिष्ठा पैरों तले रौंदी जा कर (रामायण की परित्यक्ता सीता के समान) धरती में धंसती हुई लुप्त हो रही है और 'आत्मानिभृष्ट'

के स्थान पर 'आत्माऽतिपुष्ट:' पाठ तथा 'मेरा शरीर अति-पुष्ट हो' यह अर्थ 'उदरम्भरि' भाव को ही बनाता जा रहा है, जो आप जैसे त्यागी के लिए युक्त तथा उपयुक्त नहीं है।

आशा है आप को मेरा यह सुझाव मान्य होगा और आप अपनी वृद्धावस्था तथा कार्यव्यापृतता की ओर ध्यान देते हुए वेदप्रेमी जनता को एक वार पुनः अपने अगाध वेदप्रेम तथा अपरिमित त्याग का परिचय देंगे।

आप से भेंट होने पर भी बात न हो सकने से तथा पत्र का उत्तर न मिलने से ही मुझे ऐसा (खुला पत्र) लिखना पड़ा है। यदि कुछ अयुक्त हो तो छोटा समझ कर अवश्य क्षमा करें। धन्यवाद।

(ख) वेदसार में निर्दिष्ट साहित्यिक-परामर्श-समिति के सदस्यों की सेवा में :—

आप महानुभावों का नाम वेदसार पर(१९५१वाले संस्करण में) छपा हुआ है (जिसकी बिक्री अभी जारी है)। उसी से वेदपाठ का परिवर्तनादि आरम्भ हुआ है,जो कि अब भी चल रहा है। आपका इस से पूर्व भी यह प्रथम कर्तव्य हो जाता था. कि आप वेदसार की वास्तविक स्थिति को स्वयं समझते या अन्य किसी योग्य विद्वान् की सहायता से समझ लेने का प्रयत्न करते। यदि अभी तक यह किसी कारण-वश नहीं किया जा सका, तो अब वेदसार-परीक्षण के द्वारा स्थिति अवगत कर लेने पर आप को यथोचित कार्य-वाही करनी युक्त है।

(ग) पंजाब विश्वविद्यालय की विविध समितियों के सदस्यों तथा प्रमुख अधिकारियों की सेवा में :—

वेदसार को १९६१, अप्रेल १४ की बैठक में १९६३ की परीक्षा से लगाया गया हैं। भाषाविभागों में किसी अशुद्ध पुस्तक का निर्देशन नहीं किया जाता। इस में जान-बूझ कर पाठ को अशुद्ध किया गया है और उसे 'शोधित' बताया गया है, आप लोगों ने वेदसार-परीक्षण पढ़कर यह जान हो लिया है। विश्वविद्यालय विद्या के प्रचार एवं प्रसार के लिए हैं। वेदसार में वेद का मूलपाठ भी अशुद्ध कर दिया गया है. अनुवाद ठीक ही नहीं है और व्याकरणादि मनमाने ढंग से रखे गए हैं। सूक्तों की संगति छिन्न भिन्न कर दी गई है और वेदों के मन्त्रों को रखने में भी कोई क्रम नहीं है। बल्कि "कहीं की ईंट कहीं का रोडा, भानुमती ने कुनबा जोडा" वाली उक्ति ही चरितार्थ हो रही है। अतः ऐसी उपेक्षा से संग्रह किए गए इस वेदसार का परीक्षा में पाठ्य-पुस्तक बने रहना किसी दृष्टि से भी संगत नहीं है। फिर इस वेद-सार से धार्मिक भावना वाले जगत् को भी ठेस पहुंच रही है। ऐसा न हो,कि आजकल जैसे कृष्ण के विषयमें आपत्तिजनक लेख वाली पुस्तक के विरुद्ध चर्चा जोर से चल रही है वही दशा विश्वविद्या-लय को भी देखनी पड़े। इस कारण इसे हटा कर इसके स्थान पर तुरन्त पुराना पाठ्यक्रम चालू करना चाहिए। अर्थात् वेद के कुछ सूक्त निर्धारण कर दिए जावें, उन पर सायण, दयानन्द तथा ग्रिफिथ, आदि के भाष्यों को नियत कर दिया जावें। यदि आवश्यक हो तो उन सूक्तों का संग्रह तुलनात्मक

अध्ययन के साथ पंजाब विश्वविद्यालय को या विश्वेश्वरानन्द वैदिक शोध सस्थान को छाप देना चाहिए। मेरा सहयोग अपेक्षित होने पर सुलभ रहेगा।

विश्वविद्यालय का कर्मचारी होने के नाते आप लोगों की सेवा में मेरा यही सत्परामर्श है।

इस के साथ ही पंजाब विश्वविद्यालय में संस्कृत की परीक्षाओं में जो भी पुस्तक रखा जावे उसका Review भी कराया जाना चाहिए। यह भी ध्यान रहे कि संस्कृत भारत की भाषा है अतः संस्कृत बोर्ड में भारतीय परम्परा से संस्कृत पढ़े हुए प्राचीन संस्कृत (=शास्त्री,आचार्य) के अध्यापकों को भी सदस्यता की अर्हता दी जानी चाहिए। वर्तमान काल में शास्त्री तथा आचार्य Diploma हैं और संस्कृत बोर्ड के सदस्य Degree Teachers ही हो सकते हैं। अतः संस्कृत बोर्ड में प्राचीन संस्कृत के अध्यापकों के लिए कोई स्थान नहीं है। प्राचीन-संस्कृत की पद्धति का आश्रय छोड़ कर संस्कृत पनप नहीं सकती, अतः शास्त्री तथा आचार्य के अध्यापकों को संस्कृत बोर्ड की सदस्यता की अर्हता अवश्य दी जानी चाहिए।

(घ) उदारदाताओं तथा सामान्य जनता की सेवा में :—

मेरा यह लेख पूर्ण हो जाने पर मैं ने चाहा था, कि इसे विश्वविद्यालय के Research journal में प्रकाशित किया जावे, परन्तु इस प्रार्थना का उत्तर मिलने में काफी विलम्ब हुआ, अतः विना किसी सहारे के ही इसे प्रेस में दे देना पड़ा। छपते २ जिन उदार महानुभावों से बात होती गई और जिन संस्थाओं में इसकी चर्चा चलती गई, उन्हों ने इस की छपाई आदि के खर्च का अनुपात लगाकर अपनी

उदारता से इस में यथाशक्ति सहायता देना अपना कर्तव्य समझा। अत एव उन सभी संस्थाओं तथा उदार दाताओं ने इस संकट-कालीन स्थिति में भी वेदसार-परीक्षण की छपाई आदि के लिए अपना पैसा दिया तथा शेष की पूर्ति के लिए छपने पर धन देने का वचन भी दिया है। इस से जनता के वेदप्रेम का परिचय मिल जाता है, अतः वे सभी दाता साधुवाद के पात्र हैं।

मुझे पूर्ण आशा है, कि मेरा यह लेख पढ कर श्री विश्व-वन्धु जी वेदसार को परीक्षा से हटाने के लिए स्वयं तैयार हो जावेंगे। यदि वह ऐसा नहीं करते, तो जनता जैसा उचित समझे करे। परन्तु उपाय शान्तिपूर्ण ही होने चाहिए, अभी भारत में वहुत विद्वान् है, वैदिक भी हैं, मीमांसक भी हैं। विद्वत्परामर्श से ही जनता को सत्पथ का मार्गदर्शन मिलेगा।

हम तो यही कहेंगे, कि यदि जनता को वेद की रक्षा अभीष्ट है, तो अपने काम-धन्धों से एक घड़ी आधी घड़ी जितना भी बन पड़े, वेद का स्वाध्याय अवश्य करना चाहिए। वेद के तत्त्वों को अपनी आंखों से देखना आरम्भ करना चाहिए, वेद पढ़ने की ओर उपेक्षा रखने से वेद की रक्षा नहीं हो पाएगी। वेदों का स्वयं स्वाध्याय करने का अभ्यास बनाओ यही श्रेयस्कर है।

(ङ) राज्य तथा केन्द्रिय सरकारों से :—

आज भारत धर्मनिरपेक्ष राज्य है। सरकार संस्कृत का प्रचार करने में बहुत कुछ संलग्न है। परन्तु दशा यह है कि आवश्यकता पड़ने पर संस्कृत की पञ्चतन्त्र जैसी प्रसिद्ध पुस्तकें भी कभी २ दुष्प्राप्य हो जाती हैं। वेदों का तो

कहना ही क्या है? वेदों की छपाई भारत भर में गिने चुने स्थानों में ही ठीक हो सकती है, वहां पर भी कैसी और किस प्रकार की अशुद्धियां रह जाती हैं, इसका अनुभव देखने वाले सभी विद्वानों को है, इस कारण आज वह समय आ गया है, जब कि वेदों की उपलब्ध शाखाओं के प्रामाणिक संस्करण तांबे आदि धातुओं की प्लेटों पर खुदवा कर रखे जाने चाहिए, ताकि अवसर पड़ने पर वह सुरक्षित निधि का काम देवें। इसके साथ ही केन्द्र में संस्कृत-ग्रन्थों का ऐसा बृहत् पुस्तकालय बनना चाहिए, जिस में संस्कृत के सभी ग्रन्थ उपलब्ध हों और सुरक्षित रहें।

आज के युग में छात्र विज्ञान तथा उद्योगधन्धों को प्राथमिकता देते हैं जो कि उचित तथा आवश्यक है। इधर प्राचीन संस्कृति की रक्षा भी भारतीयता की रक्षा के लिए परमावश्यक है। अतः दोनों का समन्वय तथा संरक्षण करने के लिए संस्कृत को सभी परीक्षाओं के लिए किसी न किसी स्तर पर आवश्यक पाठ्य बनाया जाना चाहिए। साथ ही शास्त्री तथा आचार्य परीक्षाओं को उत्तीर्ण करने वाले छात्रों को भी मान्यता देनी चाहिए जिस से वह जीविकोपार्जन में पिछड़ न रहें और समाज में अपना उचित स्थान प्राप्त कर पावें। आज जीविका की कठिनाई ने ही प्राचीन परम्परा से संस्कृत पढने वालों का अभाव कर दिया है।

संस्कृत की ओर सामान्यतः ध्यान दे कर वेदों की रक्षा के लिए वैसे ही प्रयत्न होने चाहिए, जैसे कि वेदधर्मशास्त्र परिपालनापरिषत् ने देहली में अक्टूबर १९६२ में घोषित किए थे। तदनुसार वेदाचार्य परीक्षा के लिए छात्रों को विशेष

छात्रवृत्ति दी जावे और आगे भी जीविका में प्राथमिकता दी जावे, तभी वेदों की रक्षा सम्भव है।

उपसंहार—इस प्रकार "ये त्रिषप्ताः" अथर्व १, १, १, के अनुसार २१ अधिकरणों अथवा तीन पीठों में विभक्त वेदसार-परीक्षण पूर्ण हुआ। इसमें आनुषङ्गिक विषयों पर भी विचार-व्यक्ति कर दी गई है ताकि पाठकों को सभी दिशाओं में आवश्यक कर्तव्य का भास हो जावे।

चण्डीगढ में छपाई की व्यवस्था उत्तम नहीं हो सकी, खर्च भी अधिक पड़ा है। स्वर निर्देश भी नहीं किया जा सका। अशुद्धियां भी रह गई हैं, कुछ विशिष्ट अपरिहार्य कारणों से छपाई में विलम्ब भी हो गया ❋। इस विलम्ब से यह लाभ अवश्य हुआ कि छपते छपते कुछ प्रकरणों की रूप-रेखा बदल गई और १९६३ अप्रेल की (M. A.) परीक्षा के प्रश्नपत्र भी देख लिए।

आशा है पाठक अशुद्धियों को शुद्ध करके पढ लेने का कष्ट करेंगे तथा अपने सत्परामर्श से अनुगृहीत करेंगे। पाठकों, शुभचिन्तकों तथा विचारपरायणों का धन्यवाद।

विदुषां वशंवदः,
मदनमोहन शर्मा
स्वाध्याय भवन,
डी०५०, सैक्टर १४, चण्डीगढ-३

❋यह सब होते हुए भी सिटी प्रेस ने जिस उत्साह से छपाई के इस काम को सभाला और अनेक आपत्तियां आने पर भी निभाया, उसके लिए श्री धर्मवीर शर्मा और उनके कर्मचारी धन्यवाद के पात्र हैं।

वेदों का चरित्रप्रधान अनुवाद
अंग्रेजी में
प्रकाशित करने की योजना

—०—

स्वर्गीय पण्डित ठाकुरदास जी (रिटायर्ड सैशन जज तथा आफिसर इन्चार्ज धमार्थं ट्रस्ट, जम्मू व कशमीर राज्य) ने मन्त्रों पर गम्भीर मनन कर के अंग्रेजी में अनुवाद कर रखा है। प्रस्तुत अनुवाद में व्यत्यय की परिपाटी को नहीं माना गया और मन्त्रों के पदों की संगति के अनुकूल ही अनुवाद का प्रयत्न किया गया है। उन के जीवन काल में भी अनुवाद करने में वह मेरा परामर्श लेते रहे हैं। अब इस अनुवाद को मन्त्रों पर किए गए विमर्श के साथ पृथक अङ्कों में प्रकाशित करने की योजना विचाराधीन है। यह लगभग दस हजार फुलस्केप पृष्ठों में टाइप किया हुआ है, जिसके कागज अब पुराने हो रहे हैं। धनी मानी सज्जनों से उदार दान की प्राप्ति होने पर इसका प्रकाशन किया जा सकता है। (संपादक)

सिटी प्रेस, ७१३, सैक्टर २२-A. चण्डीगढ।